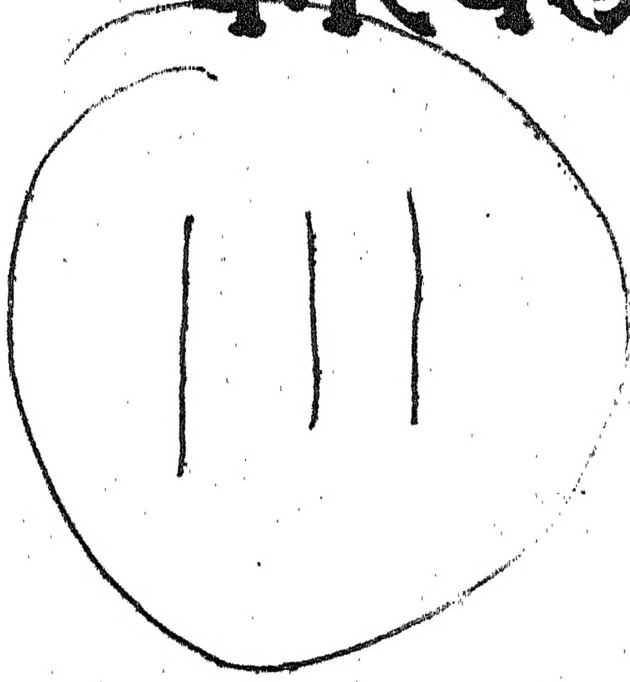
वनस्थली





सन्मति कॉलिज

पं० श्री [illegible] वर्मा

को

सा- कमला

सां।

—भद्र।

22-5-56

वनस्थली

महाकाव्य

रचयिता

'नम्र'

प्रकाशक:—
साहित्य-निकेतन
वरेली।

प्रकाशकः—
साहित्य-निकेतन
बरेली

प्रथम संस्करण
मूल्य ५)
बसन्त पञ्चमी, सं० २०१२ विक्रमी,

प्राप्ति-स्थान
हरिराम अग्निहोत्री शास्त्री, सा० रत्न,
नम्र-निवास
चौधरी मुहल्ला, बरेली

मुद्रकः—
रामगोपाल मूना
हिन्द प्रेस,
बरेली

स्वर्गीय

माता सरस्वती, पिता बालकराम

की

पुण्य-स्मृति

में

प्रकाशकः—
साहित्य-निकेतन
बरेली

प्रथम संस्करण
मूल्य ५)
बसन्त पञ्चमी, सं० २०१२ विक्रमी,

प्राप्ति-स्थान
हरिराम अग्निहोत्री शास्त्री, सा० रत्न,
नम्र-निवास
चौधरी मुहल्ला, बरेली

मुद्रकः—
रामगोपाल मूना
हिन्द प्रेस,
बरेली

स्वर्गीय

माता सरस्वती, पिता बालकराम

की

पुण्य-स्मृति

में

आमुख

अपने सीमित साहित्याध्ययन में कारुण्य से प्लावित तीन प्रसंग मेरे हृदय पर स्थायी रूप से अंकित हो गये हैं। इन प्रसंगों में से प्रथम है सीता का अवसान, दूसरा यूनानी नाटककार यूरीपिदेस् का ट्राय-नारियाँ नामक नाटक और तीसरा रुस्तम के द्वारा अपने पुत्र सोहराब का वध। यों तो सुकरात, ईसामसीह, लिंकन और गाँधी के अवसान भी हृदय को झकझोरने वाले प्रसंग हैं पर वे मानव के इतिहास में एक दूसरी ही कोटि की घटनाएँ हैं। इनका संबंध मुख्यतया साहित्य से नहीं है।

प्रथमोक्त प्रसंगों में भी सीता के जीवन की घटनाएँ मुझ को सब से अधिक मर्मस्पर्शी लगी हैं। वाल्मीकि रामायण के बालकाण्ड के ६६वें अध्याय में सीता की उत्पत्ति की कथा इस प्रकार उल्लिखित है—

अथ मे कृषतः क्षेत्रं लाङ्गलादुत्थिता ततः ॥१३॥
क्षेत्रं शोधयता लब्धा नाम्ना सीतेति विश्रुता।
भूतलादुत्थिता सा तु व्यवर्धत ममात्मजा ॥१४॥
वीर्यशुल्केति मे कन्या स्थापितेयमयोनिजा।

एवं उत्तरकाण्ड में ९७वें अध्याय में सीता का भू-प्रवेश निम्नलिखित श्लोकों में वर्णित है—

यथाहं राघवादन्यं मनसापि न चिन्तये।
तथा मे माधवी देवी विवरं दातुमर्हति ॥
मनसा कर्मणा वाचा यथा रामं समर्चये।
तथा मे माधवी देवी विवरं दातुमर्हति ॥
यथैतत्सत्यमुक्तं मे वेद्मि रामात्परं न च।
तथा मे माधवी देवी विवरं दातुमर्हति ॥

तथा शपन्त्यां वैदेह्यां प्रादुरासीत्तदद्भुतम् ।
भूतलादुत्थितं दिव्यं सिंहासनमनुत्तमम् ॥
ध्रियमाणं शिरोभिस्तु नागैरमितविक्रमैः ।
दिव्यं दिव्येन वपुषा दिव्यरत्नविभूषितैः ॥
तस्मिंस्तु धरणी देवी बाहुभ्यां गृह्य मैथिलीम् ।
स्वागतेनाभिनन्द्यैनामासने चोपवेशयत् ॥
तामासनगतां दृष्ट्वा प्रविशन्तीं रसातलम् ।
पुष्पवृष्टिरविच्छिन्ना दिव्या सीतामवाकिरत् ॥१४-२०॥

भूतल से उत्थित होने और रसातल में प्रवेश करने के मध् में सीता का चरित एक ऐसा आदर्श किन्तु प्रायः कष्टमय चरित कि युग-युग में कवियों का हृदय उससे द्रवित होता रहा है। कभ कभी तो ऐसा लगता है कि मानों वाल्मीकि के शोक को श्लोक बना वाली क्रौंच-मिथुन की कथा कहीं सीताराम की दुःखपूर्ण कथा क रूपक ही तो नहीं है? राम के राज्याभिषेक के पश्चात् सीता क परित्याग ऐसी घटना है जिसकी कसक किसी करवट चैन नहीं ले देती। इस घटना को लेकर कर्त्तव्यपालन और न्याय का, हृद और बुद्धि का ऐसा विवाद छिड़ा है जो अनन्त-काल तक समाप्त न होगा। वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति इत्यादि अनेकों कवियों इस विषय पर अपने हृदय की विषादपूर्ण भावुकता को काव्य क रूप प्रदान किया और कारुण्य की मन्दाकिनी प्रवाहित की। भवभू ने नाट्य-परम्परा की रक्षा करते हुए उत्तर-रामचरित के अन्त में रा और सीता का पुनर्मिलन दिखलाया और तुलसी की भक्त-परम्प को मानने वाले भक्त कवियों ने राम के राज्याभिषेक के साथ कथ को समाप्त मान लिया यद्यपि तुलसी ने स्वयं गीतावलि में सीत के वनवास का संक्षिप्त वर्णन अवश्य किया है।

यदि वाल्मीकि की राम-कथा को प्रकृत कथा मानें तो सीता-

के वनवास को स्वीकार करना ही पड़ेगा और रामायण की कथा को ट्रैजेडी मानना होगा। वैसे राम-कथा को ही रूपक बनाकर उड़ा देने वालों का भी अभाव नहीं है और "राम दि ग्रेट फ़ारोह आफ़ ईजिप्ट" के लेखक वेङ्कटरत्नम् महोदय ने तो राम को भारत से हरण करके मिश्र में रामसैस द्वितीय के रूप में स्थापित किया है। पर अधिकांश कवियों और विद्वानों ने वाल्मीकि को ही राम-कथा के आद्याचार्य के रूप में स्वीकार किया है एवं वाल्मीकि के समग्र काव्य में सीता के परित्याग के सदृश मर्मस्पर्शी अन्य कोई घटना नहीं है।

रामायण और महाभारत दोनों ही भारतीय कवियों के लिये कल्पतरु हैं। इनके आधार पर न जाने कितने काव्य, नाटक एवं चम्पू देवभाषा और लोकभाषा में लिखे गये हैं और आगे भी लिखे जायेंगे क्योंकि—

यावत्स्थास्यन्ति गिरयः सरितश्च महीतले ।
तावद्रामायणकथा लोकेषु प्रचरिष्यति ॥

इसी अनन्त रामकथा-मणिमाला में एक मणि पं० नाथूलाल अग्निहोत्री 'नम्र' जी ने भी "वनस्थली" के नाम से पिरो दी है। "यत्राकृतिस्तत्र गुणाः वसन्ति" के अनुसार 'नम्र' जी का यह काव्य आकृति (४०० पृष्ठ और ६१०० से भी अधिक पंक्तियों से समन्वित) और प्रकृति दोनों में ही महाकाव्य है। माना कि इसका कथानक राम-कथा का एक भाग है पर रामकथा तो वह वट-वृक्ष है जिसके विषय में "जितनी शाखा उतने वृक्ष" वाली रोमन लोकोक्ति (Quot rami tot arbores) चरितार्थ होती है।

"वनस्थली" के कवि ने स्वीकृत कथा के प्रकृत स्वरूप को ही ग्रहण किया है। यह कथा अपने प्रकृत-रूप में इतनी महान् है कि अनायास ही महाकाव्य का विषय बनने की क्षमता इसमें विद्यमान है। बाह्याभोग में अयोध्या, वनस्थली, नैमिषारण्य और मथुरा तक इस काव्य

के कार्यकलाप का विस्तार है। एक ओर रामराज्य के दृश्य हैं तो दूसरी ओर वाल्मीकि के आश्रम की वनस्थली है जो प्रकृति की गोद में पलनेवाले मानवों की सरलता को साक्षात् प्रदर्शित कर रही है। तीसरी ओर मथुरा में दैत्य--विभीषिका अपना सिर पुनः कुचले जाने के लिये उठाती हुई वर्णित की गई है। रावण के वध के पश्चात् रामराज्य में जो दो युद्ध लड़े गये वे भी इस काव्य के आयाम में आजाते हैं।

पर "वनस्थली" के रङ्गमञ्च पर होने वाली जो घटनाएँ चर्म-चक्षुओं को आकृष्ट करती हैं उनका महत्व उस भाव-जगत् की घटनाओं (और हृदय-मंथन) की तुलना में मानों कुछ भी नहीं है जो अलक्षित रूप से इस काव्य के नायक और नायिका के अन्तर् में आदि से अन्त तक घटित होती रहती हैं। अग्नि-परीक्षा में उत्तीर्ण सीता और पुरुषोत्तम राम रावण के विनाश के पश्चात् अयोध्या के राज-सिंहासन पर आरूढ़ हैं। शेष जीवन शान्ति और स्नेह का सुन्दर स्वप्न! पर अचानक निरभ्र आकाश से वज्रपात! तदुपरान्त वह कसक टीस और दरद जिसके लिये कहा है कि "दरद वह शय है कि जिस करवट से लौटो दरद है"!

फिर, रामराज्य भी चलता है, अश्वमेध होता है, युद्ध भी होते हैं, बाहर का जीवन वैसा ही संकुल, राम की कर्त्तव्य-परायणता पूर्ववत् वैसी ही दूसरों के लिये कुसुमादपि मृदु और अपने लिये वज्रादपि कठोर, पर भीतर ही भीतर जैसे सब कुछ निरर्थक और निस्सार! इसके लिये दोषी कौन? कोई भी नहीं। तभी तो कहाकि—

अवश्यं भावि भावानां प्रतीकारो भवेद्यदि।
प्रतिकुर्युर्न किं नूनं नलरामयुधिष्ठिराः॥

भक्त कहते हैं कि हम तो मानते ही नहीं कि सीता का वनवास हुआ। बीसवीं सदी का प्रगतिवादी कहता है कि यह सब असभ्य युग की स्त्रियों के प्रति अत्याचार की कहानी है। पर वास्तविकता

यह है कि यह है एक ट्रैजैडी जिसका जोड़ संसार के इतिहास में अन्यत्र मिलना कठिन है। और ट्रैजैडी क्या है? —"Tragedy of whatever type to remain Tragedy, must refuse to make all things plain, must prostrate itself before the unknown, nor presume with the sentimentalists lightly to interpret the hieroglyphics of destiny" मानव के पुरुषार्थ की महिमा और सिद्धियों को देखकर अनायास मुख से निकल पड़ता है कि "मनुष्य क्या नहीं कर सकता"? पर जब निरभ्र वज्रपात मानव के गर्व को सुरमा बना देता है तो और भी अधिक अनायास-भाव से कहना पड़ता है कि "मनुष्य कर ही क्या सकता है?" पर साहित्य जानता है कि इस ट्रैजैडी की दीक्ष-दीक्षा से धन्यता की उपलब्धि ऐरे ग़ैरे की प्रारब्ध में नहीं लिखी होती। रावण को मिटाने के कारण राम महान् हैं पर सीता के वियोग की अग्नि में तपे हुए राम महत्तर हैं। लङ्का में अपने सतीत्व की रक्षा करके अग्नि-परीक्षा में अपने सतीत्व को प्रमाणित करने वाली सीता धन्य हैं पर वाल्मीकि-आश्रम में निरन्तर अनन्त वियोग की तुषानल में तिलतिल जलने वाली सीता धन्यतर और अविस्मरणीय हैं।

"वनस्थली" के कवि ने कठिन विषय चुना है। पर वह अपने विषय को पहचानता है। उसने काव्य की परम्पराओं और मान्यताओं का निर्वाह करते हुए कहीं भी अपने विषय की अनन्य सामान्य गंभीरता को दृष्टि से ओझल नहीं होने दिया है। पर जिस विषय के विषाद से "अपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्" उसमें पग-पग पर पाठक के अश्रुप्रवाह और स्नायुसन्तान को अपेक्षित विश्राम देने के लिये विषाद को विराम देना और रसान्तर को प्रस्तुत करना आवश्यक हो जाता है। दो युद्धों का व्यतिक्रम, कुशलव की बालक्रीड़ा, प्रकृतिचित्रण, पशुपक्षियों के भावों का वर्णन यत्र-तत्र इसी भावावकाश (रिलीफ़) के लिये कुशलता पूर्वक समुचित स्थलों में प्रस्तुत किये गये

हैं और इस कलात्मकता के साथ उनका संग्रथन किया गया है कि वे विषय के स्वारस्य में पूर्णतया घुलमिल गये हैं। इससे महाकाव्योचित रस-विविधता के संविधान की उपलब्धि एवं पाठकों के भावसंतुलन की रक्षा एक साथ सिद्ध हो सकी हैं।

सीता की निम्नलिखित उक्ति—

"क्या उदर की दरी में कोई ठगा ?
दोष जग में जन्म लेने से लगा"।

बरबस जर्मन कवि हाइने की उन पंक्तियों का स्मरण करा देती हैं जिनका अँग्रेजी अनुवाद यह है—

Sleep is good, and death is better,
But best of all it were never to be born.

इसी प्रकार अन्यत्र भी "वनस्थली" में वाल्मीकि, कालिदास और भवभूति आदि महाकवियों की उक्तियों की प्रत्यक्ष अथवा प्रच्छन्न प्रतिध्वनि गूँजती हुई सुन पड़ती है। पर हिन्दी में जिन कवियों ने इस प्रसंग को अद्यावधि अपने काव्य का विषय बनाया है उनकी कृतियां "वनस्थली" की तुलना में स्यात् नहीं ठहर सकेंगी।

सर्गों की संख्या के कारण रघुवंश की स्मृति दिलाने वाला यह काव्य आधुनिक हिन्दी कविता के क्षेत्र में शीघ्र ही अपना समुचित स्थान ग्रहण करेगा ऐसी आशा विश्वास के साथ की जा सकती है। इस २० वीं शताब्दी में जो कविता पढ़ने का साहस करता है वह सहृदय अवश्य होगा और ऐसा कोई भी व्यक्ति इस काव्य को पढ़कर सजल नयन और गद्‌गद्‌कण्ठ हुए बिना रह नहीं सकेगा। सरस्वती की वन्दना करते हुए कवि ने कहा है—

दे दोगी अवलम्बनार्थ यदि
काव्य-कला की डोर—

तो क्या होगा ?

प्लावित होगा शुष्क हृदय का
चारु चषक सुकुमार ,

इस काव्य के प्रत्येक पाठक के सुकुमार चारु चषक-हृदय की यही दशा होगी।

रजक के उपालम्भ को दुर्मुख के मुख से सुनकर राम के निम्नलिखित निर्णय से "वनस्थली की प्रकृत कथा आरम्भ होती है—

सीते, अब न प्रतीक्षा मेरी
करना राज-महल में ,
अभी अभी तुमको जाना है
किसी गहन जंगल में ।

लक्ष्मण को बड़े भाई की आज्ञा पालन करने में जो मर्मान्तक पीड़ा होती है उसका आभास कुछ निम्नलिखित पंक्तियों से मिल सकता है—

वाजियन्त्र छूटे कर-तल से,
सूखे किसलय-अधर मृदुल,
मूर्छित होकर गिरे मही पर,
उथल-पुथल थे प्राण पृथुल ।

पर दूसरी ओर कुशलव के बाल्यकाल की एक झाँकी भी देखने योग्य है जो—

पकड़ने यति की श्वेत श्मश्रु ,
मचल उठते हैं ढुलका अश्रु ,
ध्यान बटते ही किञ्चिन्मात्र
पलट देते हैं पूजा-पात्र ।

और अन्त में यह युद्ध का वर्णन भी द्रष्टव्य है—

मर्कट लड़ मरे मर्कटों से ,
भालू को भालू उठे फाड़ ,
भिड़ गये केसरीनन्दन से
केसरी सकेसरिणी दहाड़ ।

मुझे तो ऐसा लगता है कि वाल्मीकि की निम्नलिखित उक्ति–

शेषवैभव ने प्रचेतस् के कहा–
'श्रेय है इस वनी को कितना महा ?
भक्त भी, भगवान् भी, सद्भक्ति भी,
ज्ञान है, वैराग्य है, अनुरक्ति भी ।'

केवल वस्तुस्थिति का वर्णन ही नहीं प्रत्युत 'वनस्थली' काव्य के लिये आशीर्वाद भी है ।

क्या नहीं है इस समृद्ध 'वनस्थली' में ? पत्र, पुष्प, फल और रस नाना रंगों और स्वादों के साथ सभी कुछ तो है । मानव का सुख राम के राज्याभिषेक के साथ हिमगिरि-शिखर के तुल्य अपना उत्तुंग शिर उठाये हुये इस काव्य के एक छोर पर है और दूसरे छोर पर जो है उसको कवि के शब्दों में सुन लीजिये–

वेदना ने सुता की उर को छुआ,
अन्तराल विकीर्ण वसुधा का हुआ,
कर-कमल जोड़े सजीव समा गयीं,
कीर्ति पतिवत्नी अनन्त कमा गयीं ।

सुख की उस ऊँचाई और कारुण्य की इस गहराई के दो तटों के बीच मानव-जीवन का प्रवाह आवर्त्त-बुद्बुद्–तरंगमयविकारों को ग्रहण करता हुआ कभी मरीचिमाली किरणों से ओतप्रोत रजतद्रव का रूप धारण कर लेता है तो कभी भावों की निशीथ में तमस्तोम का, कभी आनन्द से विभोर हुए कुशलव की किलकारी बनजाता है, कभी

जानकी का विहाग और कभी जृम्भकाखों का वन घर्घर घोष। पर इस विविधता में भी है सर्वत्र कारुण्य की गहरी छाया जो मानव के इतिहास में सर्वत्र और सर्वदा बनी रही है। पर इस कारुण्य से प्राय: कवियों ने अपने नेत्रों को मोड़ लिया है जैसे कि शुतुर्मुर्ग कभी कभी अपने सामने के दृश्य को असह्य पाकर वालुका में अपने मुख को छिपा लेता है। 'वनस्थली' के कवि ने आदि कवि के समान जीवन के इस पक्ष को अन्त तक निबाहा है। इसका कुछ महत्वपूर्ण अर्थ है।

बरेली कालेज
२७-२-५६

भोलानाथ शर्मा
एम० ए० (इंगलिश, हिन्दी, संस्कृत)
अध्यक्ष संस्कृतविभाग

नम्रनिवेदन

प्रिय शिष्य श्री निरंकारदेव सेवक वकील तथा मेरे परम हितेच्छु 'निर्झरिणी' के निर्माता श्री रामजीशरण सक्सेना एडवोकेट एवं श्री गुलाबराय इन्टर कालेज के प्रधानाचार्य श्री श्यामाचरण अग्रवाल की हार्दिक इच्छा थी कि मैं कोई वृहत्काव्य लिखूँ। फलस्वरूप 'वनस्थली' आज जनता-जनार्दन के सम्मुख है।

मैं इस उपर्युक्त प्रयत्न में कहाँ तक सफल हुआ हूँ इस दिशा में विश्वसाहित्य के प्रकाण्ड पण्डित प्रोफेसर श्री भोलानाथ शर्मा, एम० ए० ने अपनी भूमिका में पर्याप्त प्रकाश डाला है। मैं उनको धन्यवाद देने में संकोच करता हूँ, गुजराती का अध्ययन मैंने उनसे ही किया है, 'वनस्थली में भी परामर्श लिया है। अन्य विद्वानों ने भी अपनी अमूल्य सम्मति दे कर मुझे कृतार्थ किया है। मैं उनका हृदय से आभारी हूँ।

'वनस्थली' (महाकाव्य) लिखने का मुझे कदापि अवसर न मिल पाता यदि श्री धर्मदत्त वैद्य, एम० एल० ए०, श्री जगदीश-शरण अग्रवाल, एम० एल० ए० एडवोकेट कालेज के बन्धन में न फाँसते। मैं उन के इस सहज स्नेह का कृतज्ञ हूँ।

नगरपालिका सभा के अध्यक्ष श्री रामसिंह खन्ना, एम० ए० का 'वनस्थली' से निकटतम सम्बन्ध है, आये दिन आप वनस्थली की कविता बड़ी श्रद्धा से सुनते हैं। पुस्तक-प्रकाशन के लिये आप की ही प्रेरणा हुई।

साथ ही श्री गिरीशकुमार कपूर, बी० कॉम०, श्री रामभरोसेलाल टन्डन सर्राफ, श्रीराम अग्रवाल श्री धनीराम कपूर, श्री कन्हैयालाल मेहरोत्रा, श्री रघुवीरशरण, श्री बाबूलाल खण्डेलवाल आदि को भी मैं नहीं भुलाना चाहता 'वनस्थली' के प्रति आप का प्रेम सर्वथा श्लाघ्य है।

'वनस्थली' छपते समय श्री गोपेश्वरबाबू मेहरोत्रा और श्री सूर्यप्रकाश एडवोकेट की सद्भावना रही है। श्री रामगोपाल मूना ने बड़ा सहयोग दिया है। पृष्ठ ३३ अन्तिम पंक्ति में 'भाव से' के स्थान में 'चाव से' पृष्ठ ७८ 'जिस के' स्थान में 'जिभ' पृष्ठ २८२ 'पवन-पुत्र' के स्थान पर पावन-पुत्र' छप गया है। पाठक सुधार लें। साहित्य-निकेतन के उत्साही प्रबन्धक राजेन्द्रप्रसाद मेहरोत्रा, बी० ए० ने प्रकाशन का कुछ भार अपने ऊपर लेकर मुझे अनुगृहीत किया है। इनके अतिरिक्त और भी कुछ महानुभाव हैं जिनके प्रति मैं आभार प्रकट करता हूँ।

तिलक इन्टर कालेज,
बरेली।

नाथूलाल अग्निहोत्री
'नम्र'

ॐ

रसना से अनुरोध

क्षणभङ्गुर जीवन की कलिका
कल प्रात को जाने खिली न खिली ?
मलयाचल की शुचि, शीतल, मन्द ,
सुगन्ध समीर मिली न मिली ;
कलि - काल कुठार लिये फिरता ,
तन 'नम्र' से चोट झिली न झिली ,
भज ले हरि-नाम अरी रसना !
फिर अन्त - समय में हिली न हिली ।

परिचय

है उत्तरप्रदेश में वन-तट 'पीलीभीत',
अन्तर्गत है उसी के ग्राम 'अखौला' स्फीत।

कान्यकुब्ज-कुल में मिला जन्म, इष्ट श्रीराम;
किसी पुरातन कर्म-वश बना विधाता वाम—

रुदित बाल्य में छोड़कर स्वर्ग पधारे तात;
'सरस्वती' माता रहीं सरस्वती साक्षात्।

मातामह 'हृदयालु' ने रखा वरद निज हस्त;
गाँव 'कष्टुआ' में बने सुखमय कष्ट समस्त।

हुई 'बरेली' दैववश 'वाराणसी'-समान;
कितने गुरुओं का मिला शुभाशीष वरदान।

वैसे लघुपन से रहा कविता का उन्माद;
प्रस्तुत कृति को समझिए कविजन-कृपा-प्रसाद।

मार्गशीर्ष सितसार, सम्वत् चष नभ राशिमय;
षष्ठी, मंगलवार, हुआ ग्रन्थ सम्पन्न शुभ।

प्रथम सर्ग

श्रीवरदे, वर दे, सुशारदे,
भर दे भिक्षा-पात्र;
कर दे मङ्गलमयी कामना,
हर दे संकटमात्र।

ला दे सुप्त स्मृति रन्ध्रों में,
मूर्तिमती विस्फूर्ति;
सुचिर समस्या समुपस्थित है,
कर दे कृपया पूर्ति।

रहे आदि मध्यावसान में
चरण–कमल का ध्यान ;
क्वणन, रणन-स्वन पर वीणा के
हो मन–मृग का मान ।

माना-ब्रह्म-स्वरूपा हो मा ,
निर्मल, निर्गुण-रूप ;
ज्ञान-छटा बन प्रकृति दिखाती
प्रति पल परम अनूप ।

शश्वत् नम्र-निमित्त सरस्वति ,
करती कृपा अपार ;
दानव-दल का दम्भ दमन कर
करती खल-संहार ।

आत्म-विनिर्मित विश्व-विपिन में
करती स्वच्छ विहार ;
घट-घट में ही संव्यापक हो
देती प्रभा प्रसार ।

कवि के मानस में सरसाती
भावों की भरमार ;
पहुँचाती साफल्य-शिखर पर
विघ्न-शूल कर क्षार ।

देती स्वयं विचार-शक्ति हो
बना सरस हृद्-देश ;
पड़ती बरस काव्य-धारामय
सुकवि — सुमति सावेश ।

वह ही पुण्य-तटी बन बहती
जगती में साकार ;
मज्जन कर होता कृतार्थ है
प्रिय सज्जन-संसार ।

कौन प्रशक्ति लेखनी में है
कवि की कला—प्रपुञ्ज ?
जिसके द्वारा चुन देता कवि
कुसुमित कविता-कुञ्ज ।

रहे आदि मध्यावसान में
चरण–कमल का ध्यान ;
क्वणन, रणन-स्वन पर वीणा के
हो मन–मृग का मान ।

माना-ब्रह्म-स्वरूपा हो मा ,
निर्मल, निर्गुण-रूप ;
ज्ञान-छटा बन प्रकृति दिखाती
प्रति पल परम अनूप ।

शश्वत् नम्र-निमित्त सरस्वति ,
करती कृपा अपार ;
दानव-दल का दम्भ दमन कर
करती खल-संहार ।

आत्म-विनिर्मित विश्व-विपिन में
करती स्वच्छ विहार ;
घट-घट में ही संव्यापक हो
देती प्रभा प्रसार ।

कवि के मानस में सरसाती
भावों की भरमार ;
पहुँचाती साफल्य-शिखर पर
विघ्न-शूल कर क्षार ।

देती स्वयं विचार-शक्ति हो
बना सरस हृद्-देश ;
पड़ती बरस काव्य-धारामय
सुकवि — सुमति सावेश ।

वह ही पुण्य-तटी बन बहती
जगती में साकार ;
मज्जन कर होता कृतार्थ है
प्रिय सज्जन-संसार ।

कौन प्रशक्ति लेखनी में है
कवि की कला—प्रपुञ्ज ?
जिसके द्वारा चुन देता कवि
कुसुमित कविता-कुञ्ज ।

गुरु-पद-पंकज भक्ति-हीन हूँ,
हूँ न परम विद्वान् ;
जो कुछ भी हूँ, स्वयं समझते
निज मन में मतिमान् ।

है विश्वास एक दृढ़मूलक
कर निज दृग् की कोर
दे दोगी अवलम्बनार्थ यदि
काव्य-कला की डोर—

प्लावित होगा शुष्क हृदय का
चारु चषक सुकुमार ;
जाग उठेगा अमर सुधा पी
मेरा लघु संसार ।

जिसके सम्मुख कीर्ति-कौमुदी
थी त्रिभुवन की तुच्छ ;
उसी देश - उपवन की मुकुलित
कुलि-कलिका का गुच्छ—

सविधि गूँथ कर काव्य-सूत्र में
सुन्दर सालंकार
मधुप जनों के है सुकण्ठ का
नवल बनाना हार ।

अङ्गीकृत उपहार करेंगे,
कैसे लूँ मैं मान ?
प्रायः पर-दोषों पर ही जग
देता आया ध्यान ।

हो कुछ जिन्हें स्वदेश, जाति, निज
भाषा-मधु से प्रेम ;
सम्भव है-वह कुछ अपनायें
मेरी कृति सक्षेम ।

अग्र-गण्य था गुणग्रहण में
सच-मुच भारत—देश,
संरत था विश्वोपकार में ;
था न स्वार्थ का लेश ।

गुरु-पद-पंकज भक्ति-हीन हूँ,
हूँ न परम विद्वान्;
जो कुछ भी हूँ, स्वयं समझते
निज मन में मतिमान्।

है विश्वास एक दृढ़मूलक
कर निज दृग् की कोर
दे दोगी अवलम्बनार्थ यदि
काव्य-कला की डोर—

प्लावित होगा शुष्क हृदय का
चारु चषक सुकुमार;
जाग उठेगा अमर सुधा पी
मेरा लघु संसार।

जिसके सम्मुख कीर्ति-कौमुदी
थी त्रिभुवन की तुच्छ;
उसी देश-उपवन की मुकुलित
कृति-कलिका का गुच्छ—

सविधि गूँथ कर काव्य-सूत्र में
सुन्दर सालंकार
मधुप जनों के है सुकण्ठ का
नवल बनाना हार ।

अङ्गीकृत उपहार करेंगे,
कैसे लूँ मैं मान ?
प्रायः पर-दोषों पर ही जग
देता आया ध्यान ।

हो कुछ जिन्हें स्वदेश, जाति, निज
भाषा-मधु से प्रेम ;
सम्भव है-वह कुछ अपनायें
मेरी कृति सक्षेम ।

अग्र-गण्य था गुणग्रहण में
सच-मुच भारत—देश,
संरत था विश्वोपकार में ;
था न स्वार्थ का लेश ।

पूत पुरश्चरणों में ऋषि मुनि
रहते थे संलीन,
आवश्यकता पड़ने पर थे
बनते अस्थि-विहीन।

तीर्थ, तपोवन, जल-सङ्गम थे
धर्म-पुण्य के द्वार;
जग-दुर्लभ मोक्षप्रदान का
रखते थे अधिकार।

आर्य-प्रदेश समस्त उपज में
था सब का शिर-मौर,
समालोचना में उस वेला
कौन देश था और?

नयी-नयी थीं यहाँ उपजती
निधि की निधि सुमहान्;
पाते भाग समान सभी थे
क्या जड़, क्या गतिमान्?

कन्द, मूल, फल का क्रय-विक्रय
था न विपण में स्वल्प ;
केवल एक शक्र करते थे
कभी तक्र का कल्प ।

स्रोतस्विनी अपरिमित पथ की
रसती थीं प्रति सद्म ;
श्रद्धा से जाते थे पूजे
पयस्विनी – पद – पद्म ।

विद्या का विख्यात क्षेत्र था ,
होता था शुभ याग ;
सभी जातियाँ हिल-मिल इसका
गाती थीं मृदु राग ।

सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य-व्रत
था अनादि शृङ्गार ;
सुरस्नुषा शिक्षा सतीत्व की
पाती थीं इस पार ।

बाल-वर्ग गुरु के आश्रम पर
कर सद्‌ दीक्षा प्राप्त,
जन्म-भूमि का दिग्-दिगन्त में
करते थे यश व्याप्त।

स्वल्प द्वेष भी इष्ट नहीं था,
था अभीष्ट सुस्नेह;
शरणागत स्व-शत्रु भी पाता
आश्रय निस्सन्देह।

आर्यावर्त सिखाता आया
दीन, दलित-सम्मान;
किसने और प्रसारा जग में
मनुज-दया का दान?

प्रथम यहीं था दीन-बन्धु ने
लिया परम अवतार;
ठुकराया था राज-भवन को,
भाया कारागार।

देवों को भी रुचने वाला
था भारत का वेश ;
नक्तन्दिव सब से सुनता था
उन्नति का सन्देश ।

अत्युत्तुङ्ग महत्ता का है
हिम-गिरि आज प्रतीक ;
नहीं महा वैज्ञानिक भी हैं
माप कर सके ठीक ।

शिल्प-कला से कल्लोलित था
समय न था दुर्धर्ष ;
गिरा दैव से विपद्ग-गर्त में
तदपि न तजा प्रकर्ष ।

कर सकता क्या कला-प्रदर्शन
कोई नृप - कुल - केतु ?
गये बना वानर सागर पर
प्रस्तर - खण्ड - प्रसेतु ।

मान वेद-मन्त्रों को अपना
सच्चा मुख्य अमात्य,
कला-पराकाष्ठा पर पहुँचे
हैं संप्रति पाश्चात्य ।

किया प्रयास अनेक वार ही
लगा प्राण की होड़;
हार गये, पुष्पक विमान का
मिला न पाये जोड़ ।

क्रिया शब्द-वेधी बाणों की
थी अत्यन्त प्रसिद्ध;
दुरित दुर्ग में समाच्छन्न रिपु
हो जाता सम्विद्ध ।

यों तो थी प्रिय शान्ति, किन्तु यदि
देता कोई रोष;
एक श्वास में विश्व-समीरण
चट सकते थे शोष ।

मृत्यु - लोक का युद्ध, गर्भ के
अर्भक का था खेल,
अणु परमाणु कौन गणना में
गये अशनि तक झेल।

परिखों में क्या हुआ – बनाया
है रथ - वर्त्म मनाक्;
कभी आर्य - वीरों के रथ की
थी सुर-पुर तक धाक।

कहां सुदर्शन के अब दर्शन ?
हैं शस्त्रास्त्र नवीन;
होते चूक महर्ता को भी
कर दें प्राण - विहीन।

कैसे आविष्कार यहाँ थे
अद्भुत और गभीर ?
लक्ष्य वेध कर आजाते थे
आयुध योद्धा - तीर।

शौर्य - कला में कुशल शूर थे
भारत के ही रत्न ;
सो जाते थे शर-शय्या पर
जीवित बिना प्रयत्न ।

बलि की वेदी क्या थी मानो—
सुर - पुर का सोपान ;
पुरः-प्ररोहण में जाता था
गिना आत्म - सम्मान ।

भारतीयता का अनन्त तक
था अनन्त आतङ्क ;
त्याग तरलता स्वागत करती
सपदि सर्प - पर्यङ्क ।

पातालस्थों, स्वः - प्रस्थों में
छिड़ा जभी संग्राम ,
भारत ही मध्यस्थ कहाया ,
चुका न्याय निष्काम ।

निज झगड़ों के सुलझाने में
थी उलझन न प्रचण्ड ;
प्रिय से प्रिय सिद्धान्तवाद में
पा जाता था दण्ड ।

राज्य - कार्य के साथ साथ था
होता धर्म - प्रचार ;
सकल प्रजा की देख - रेख का
था नृप के शिर भार ।

उच्छृङ्खलता कभी राष्ट्र में
थी न उठाती ग्रीव ;
न्याय, करुण शासन ने समझा
सदा जीव को जीव ।

बन्दीगृह में भी बन्दीजन
थे स्वतन्त्र, स्वच्छन्द ;
निगड - बन्ध से स्वाद वाद्य का
लेते थे सानन्द ।

सुमति - सुमन - शाली
भारतोद्यान न्यारा,
निखिल भुवन में ही
था यशोगन्ध देता;
प्रिय भ्रमर जनों का
सर्वथा था दुलारा,
सुर-सुविपिन-सा था
स्वर्ग का सौख्य सेता।

द्वितीय सर्ग

इसी देश के कर्ण-प्रान्त में
'वनस्थली' थी एक ललाम;
किसी समय में जीवमात्र को
थे स्वर्गीय अमित आराम।

स्वयं नियति ने सौंप दिया था
निज मर्मस्पर्शी सौन्दर्य,
विदित विलोकन से होता था
सकल कला-कौशल, सौकर्य।

निज कर से ही मानो-विधि ने
सविधि सबल डाली हो नीव ;
यश सुनते दर्शन को लोचन
ललचा उठते विवश अतीव ।

कुसुमाकर तरु-वल्लरियों को
रखता था कुसुमित सुख-मूल ,
सघन निकुञ्जों में प्रयाण से
नव्य पथिक जाता पथ भूल ।

बृन्दावन-सी कुञ्ज-गली थीं
नंदन-वन-सा था विस्तार ;
मलयज मारुत सत्सौरभ का
करता था निशिदिन सञ्चार ।

कर जाता यह यदि ईषद् भी
दैव - योग से अंगस्पर्श ;
वातावरण बना देता था
मानव का जीवन आदर्श ।

वन - मृग - नाभिस्थित कस्तूरी
पा कर पावन पवन - प्रसंग
मानव - मन - कलिकायें विकसित
कर देती थी बढ़ा उमंग।

कन्द, मूल, फल, जल, दूर्वादल,
दर्भ, कुशों का था सुविकास;
दुर्लभ क्या है वहाँ जहाँ पर
ऋतु - रानी का सुखद निवास?

कितने ही निर्झर, निर्झरिणी
इतस्ततः थे निःसृत स्वच्छ;
एक बार लगता वितुच्छ था
कालिन्दी का भी कल कच्छ।

धवलित ध्रुव धारा स्वर्ध्वनि की
बहती थी वन बीच अमन्द;
मधुर स्व-ध्वनि से मन्त्र सिखाती
तीर - वासियों को स्वच्छन्द।

कल्पवृक्ष - सम वट - वृक्षों का
था तट तट उत्कट प्राकार ;
जटिल जटा - जूटों से लगता
सुर - विशेष का शुचि अवतार ।

धर्म, अर्थ, सत्काम, मोक्ष ही
सकल अचल फल थे शुभ चारु ;
स्व - भुज उठा साक्षी भरते थे
चपल गगन - चुम्बी सुर - दारु ।

पतझड़ में भी छद - संछादित
रहती थीं शाखा सुदुरूह ;
आकर बसते थे निशीथ में
दूर - दूर के विहग - समूह ।

पावस में मोहता पपीहा
लगा 'पी - कहाँ' की आलाप ;
पिक कहती - 'हेमन्त - अन्त में
दूँगी पता, रहो चुपचाप' ।

सुखासीन लघु द्रुम - छाया में
था करता केकी कल्लोल ;
कल कूजन से कर्ण - कुहर में
सुधा - सार देता था घोल ।

रजत - कणों में वनस्थली के
ऐसा था कुछ पुण्य - प्रभाव -
हिंसक प्राणी भी हिंसा का
रखते थे न स्वान्त में चाव ।

प्रत्युत अभ्यागत - स्वागत में
प्रस्तुत हो सदैव निस्वार्थ
भूले भटके को दर्शाते
सत्पद्धति विचार परमार्थ ।

गज, मृग, सिंह, जन्तु संचरते
संग - संग हिल मिल निर्द्वन्द ;
नहीं अद्यतन मनुज - जाति - सा
था व्यवहारों में छल छन्द ।

सिंह - शावकों में मृग - शावक
अठखेली खेलते प्रशस्य ;
मृगाधीश्वरी खड़ी निकट में
अवलोकती विचित्र रहस्य ।

भालु , वराह - यूथ चलते थे
एक राह में नद्धस्कन्ध ,
नहीं पल्वलों में छाते थे
निज आलोडन से दुर्गन्ध ।

धन्य पुण्य की उपत्यका वह—
जहाँ नहीं जातीयोत्पात ;
सबल स्वप्न में भी न अबल को
पहुँचाते अनुचित आघात ।

सायं समय संघटित हो नित
सूर्य - समभिमुख वन - पशु , जन्तु
बैठे संध्या - सी करते थे
संयत बना आत्म - तनु - तन्तु ।

अर्पण कर सादर श्रद्धाञ्जलि,
संविलोक लघु सन्ध्यालोक,
निद्रा - देवी की गोदी में
शयन - हेतु जाते निज ओक।

चारु चन्द्रिका - छटा क्षपा में
सुछवि छिटकती चारों ओर;
हो उठते रूपाभ - लाभ से
निज मानस में मुग्ध चकोर।

चक्रवाक दिन के विभ्रम में
सहते थे न विरह का ताप;
किस अविदित अगर्त में जाने
था सन्निहित पुरातन शाप?

परिवर्त्तन कर प्रकृति वेश निज,
धारण कर शृङ्गार नवीन;
दिव्य व्योम से उतर धरा पर
करती थी नर्त्तन स्वाधीन।

विश्व - मोहिनी शक्ति भरी थी,
सुन्दरता, आसक्ति अपार;
नहीं पा सके कवि - कोविद भी
लीला का कुछ पारावार।

कोकिल - कुल ने किस से सीखा
वन में पञ्चम स्वर से गान?
क्या कारण है - उड्डीनों में
असिता का इतना सम्मान?

अलियों को किसने सिखलाया
मधु के प्रति अनुराग अवध्य?
होते ही निशान्त संचरते
कलियों की गलियों के मध्य।

नहीं पहुँचने प्रिय तक देता,
कौन उदधि का वाहु - विपाश?
किस के बल पर दीपावलि है
नित्य मनाता नीलाकाश?

सरित्, पादपावलि, सुरभी ने
कहाँ पढ़ा उपकृति का पाठ ?
जिन के जल, फल, क्षीर-पान से
अब तक है जगती का ठाठ ।

किसी दशा में प्रकृति - नियम का
सुना गया न कहीं अपवाद ;
रोम - रोम विधने पर शर से
मृग को प्रिय तन्त्री का नाद ।

देवाङ्गना कहाँ से लायीं
नृत्य - कला का आविष्कार ?
सर्व प्रथम झांकना पड़ा है
आदि नर्त्तकी का ही द्वार ।

जाने कितनी प्राचीना है ?
अधिक नवीना से चापल्य ;
अचेतनों में भी स्व - कला से
भर देती जीवन - साफल्य ।

गिरि - निर्झर के कल कल रव में
नीरवता का गाती राग ;
कभी प्रेम में उन्मत्ता - सी
नग्न खेलती जल से फाग ।

उझक उझक झुरमुट झाड़ी का
झुकती झट झीलों की ओर ;
चिर वियोगिनी बनी विपिन में
हो उठती थी विकल विभोर ।

किस प्रणयी से प्रणय कराने
कभी साधती थी निज मौन ?
विकच कुमुदिनी की क्यारी में
क्या करती थी जाने कौन ?

मन्थर - गति से मन्थर को भी
कभी लजाती विना प्रयास ;
वारि - मुकुर में चन्द्र - विम्ब को
झांक - झांक करती परिहास ।

सरल सुधाकर से कहती थी
वचनावली व्यंगता - पूर्ण ;
'अरे सुहृद्, बोलो तो मुख से
किस दुश्चिन्ता से हो चूर्ण ?

वैरी राहु - केतु क्या छाना
पुनः चाहता है स्वातङ्क ?
अथवा शश - शावक - कलङ्क को
कंपित हो धो रहे मयङ्क !

स्वल्प स्वाभिमानी को सहना
महा कठिन है जनापवाद ;
जिस का विश्लेषण छाता है
प्रासादों में भी अवसाद ।

चिन्ता में लोकापवाद की
बुध बनता कर्त्तव्य - विमूढ़ ;
मति दोलायमान दोला - सी
निर्णय तक न पहुँचती गूढ़ ।

कितने भोले-भाले प्राणी
हुए लोक-निन्दा की भेंट;
क्षुद्र लोक छिद्रान्वेषण में
बाँधे फिरता फिर भी फेंट।

सच है-जब तक मान जगत् में,
तब तक जीवन है सुख-सार;
स्वर्ग-प्राप्ति अपमान-सहित है
अजा-गलस्तन के सम भार।

पर, इतना किम्वदन्तियों से
तुम क्यों मन में मलिन मृगाङ्क?
जहाँ अन्य आक्षेप, वहाँ है
सुयश सुधा का प्राप्त सुधाङ्क!

दुर्गुण, गुण का चिर संगम है,
नहीं वस्तु कोई निर्दोष;
है समर्थ को दोष नहीं कुछ,
क्या कर लेगा दूषण-घोष'?

मायाविनी इसीविध अपना
फैलाती थी माया - जाल ;
शुद्धाद्वैत - वादियों को भी
देती द्वैत - वाद में डाल ।

कहीं उठाती प्रश्न प्रगति का,
कहीं दबाती अभ्युत्थान ;
कहीं सन्धि - प्रस्ताव छेड़ती ,
कहीं कुविग्रह आती ठान ।

अपनी 'वनस्थली' को रखती
त्रिभुवन के त्रिताप से दूर ;
स्वयं मालिनी बनी सजाती
अनुपम पृथक् क्यारियाँ पूर ।

किस भावी वन - देवी के हित
रुचि से रचती पर्ण - निकेत ?
रक्षा में हो निरत अनवरत
मारुत सजग हिलाता वेत ।

पूर्ण नहीं झपकी ले पाता
निद्रा में अलसित शरदिन्दु ;
हंस - बालिका बन चुन लेती
दल - दल के चल मुक्ता - विन्दु ।

बाल प्रभाकर का सुस्मितपन
उषा - काल में स्वर्ण - समान
कलियों का मुख खोल कराता
चञ्चरीक जन को मधु - पान ।

अति अपमानित पारिजात था,
तितली भी न फटकती पास ;
पुष्प यहीं लेने आते थे
पूजा - हेतु देव तज त्रास ।

निर्जन वन में स्वर्ग बना था,
सात्विकता थी परम प्रधान ;
नन्दन - वन के भ्रम से सुर - पति
सदा विचरते थे सविमान ।

अधुना तत्सम दृश्य नहीं हैं,
हैं अवशेष चिन्ह दो एक;
तदपि पर्यटन से उठता है
उर में कुछ अद्भुत उद्रेक।

पर्व-पर्व पर दूर दूर के
जुड़ते हैं श्रद्धा से लोग;
सप्ताहों बसते कुटियों में
समझ त्रिविष्टप का संभोग।

किसी समय अपवर्ग यहाँ की
सिकता से होता अभिषिक्त;
आर्त्त लौटता था न गेह को
ले निज अभिलाषायें रिक्त।

आतप तपस्वियों के तप की
लाता था न स्पर्धा नीच;
जलद सुखद छाया रखते थे,
देता निज धन धनद उलीच।

वनस्थली की
सुयशस्थली को
भवस्थली ने
हृदयस्थली दी ;
इसी लिये केलि-
कलास्थली हो
सुरस्थली – सी
सुकृतिस्थली थी ।



तृतीय सर्ग

तपः स्वाध्याय, यागों के
योग्य थी विपिनस्थली ;
चारों ही सुफलों से थी
सर्वथा रहती फली।

मुनि बाल्मीकि जी की थी
अन्यतम जन्मस्थली ;
रजस्कण से जिसके
दिव्यतम काया ढली।

रमा था जो जिह्वा पर
रमा प्रत्येक रोम में ;
हुईं अन्तर्मुखी सारी
वृत्तियाँ तम - तोम में ।

बनाया स्तूप - सा भारी
आचूड़ान्त वल्मीक ने ;
महत्ता उत्तमा पायी
मृत्तिका के प्रतीक ने ।

स्वर्ग - सोपान थे मानो—
जीवों के कल्याण - हित ;
बनता दूसरा या था
मेरु दीनत्राण - हित ।

लतायें छत्र - छाया - सी
छा गयी थीं समन्ततः ;
शीत, ग्रीष्म, महा वर्षा
पाती थीं न सता अतः ।

पुष्प ऊपर थे बर्षे
सौरभ से बसे हुए;
शम्भु की मूर्ति के धोखे
थे भुजङ्ग लसे हुए।

चीटियाँ व्याज अण्डों के
अक्षत थीं चढ़ा रही;
चेतना छोड़ काया को
युगों की वायु में बही।

न्यूला, न्यूलियाँ, ऊपर
खेलती अठखेलियाँ;
व्यापती न तपस्वी को
बाह्य थीं रँग रेलियाँ।

नील गौ, बारहसिंहा
चाटते थे चाव से;
गिल्हड़ी क्रीड़ती-सी थी
न जाने किस चाव से?

वलीवर्द खुजाते थे
ककुदों को सुस्नेह से ;
छूने न भृंग देते थे
मृत्तिकावृत देह से ।

तपस्वी की न काया को
कष्ट दे अज्ञता जहाँ -
रक्त की होलिका खेले
उस से विज्ञता वहाँ !

क्या दशा देश की होगी ?
जानता भगवान् ही ;
ऐसे नर - पिशाचों का
महापातक ध्यान ही ।

झुकाती शीस है आगे
मृत्यु भी जिनके सदा ,
देश का भार कन्धों पर
रहता जिनके लदा ,

वज्र का काम देती हैं
जिनकी प्रौढ़ हड्डियाँ ;
दीनों की पुकारों पर
भरती हैं कबड्डियाँ -

उन्हीं के पाद - पद्मों की
धूल ले जग धन्य हो ;
साथ ही मुनि की जैसी
राम - भक्ति अनन्य हो ।

रमा जो विश्व में सारे ,
रमा जो सूर्य , सोम में ,
वही राम रमा - स्वामी
रमा था रोम रोम में ।

देव - सत्ता तपस्या से
पत्र - सी डोलने लगी ;
युगों के अन्त की बोली
कोकिला बोलने लगी ।

शीघ्र सप्तर्षियों ने आ -
जगाया सत्समाधि से ;
छुड़ाया पिण्ड आगे को
व्याध की दुरुपाधि से ।

' उठो दृक्-कंज को खोलो ,
तपस्या पूर्ण हो चुकी ;
तुम्हारे हेतु आगामी
देशभगति है रुकी ' ।

भासता शैल से जैसे
उदय के सत्सूर्य है ,
द्योतता खान से जैसे
दिव्यतम वैदूर्य है ,

मेघ - माला हटा जैसे
झाँकता विधु भव्य है ,
उगता पंक से जैसे
प्रात - पंकज नव्य है ,

तोड़ शैवाल - जालों को
जैसे कुमुद मोहता '
ऋतु - पर्यान्त में जैसे
है महातरु सोहता ,

ठीक वल्मीक से वैसे
प्रादुर्भूत मुनि हुए ;
अतः वाल्मीकि - संज्ञा से
लोकाहूत मुनि हुए ।

सुरों से पूर्व पुष्पों को
बरसाया वसन्त ने ;
यशः सौरभ फैलाया
मुनि का दिग् - दिगन्त ने ।

एकदा तमसा से थे
नहाये मुनि आरहे ;
आर्द्र कौपीन को धारे
अति शोभा थे पा रहे ।

एक आङ्गिक छाया के
अन्य कोई न साथ था;
कमण्डलु जलवाला
और दक्षिण हाथ था।

तपस्वी थे अतः ऐसा
खलता ताप था नहीं;
स्वेद-कण का अंगों में
फिर भी माप था नहीं।

ठीक मध्यान्ह वेला थी,
भुवन क्या था भाड़ था?
सूर्य भी रथ-छाया को
देखता दृग् फाड़ था।

जवासा, अर्क, दूर्वा की
रुचि का ग्रीष्म-अर्क था;
अल्हड़ बेल, बूटों को
कष्ट-प्रद सम्पर्क था।

अपनी अपनी छाया
समेटे पेड़ थे खड़े ;
चीलें अण्डा छोड़ती थीं ,
हाँफते पशु थे पड़े।

तीव्र लू की लपटों से
जाता पवन था फुका ;
होली - सी दिशा जलती
विश्व का काम था रुका।

क्रौञ्च, क्रौञ्ची फिर भी तो
काम - मोहित थे बने ;
तरु - तीर लुब्धक के
तीर थे विष के तने।

विषयासक्त जीवों को
क्या पता - काल कौन है ?
दूसरे भाग्य की रेखा
सकता टाल कौन है ?

काम होगया खग का
एक ही लघु बाण से ;
खगी चिल्ला पड़ी 'चीं-चीं'
प्रियप्राण - प्रयाण से ।

वाल्मीकि महामुनि को
आगयी करुणा बड़ी ;
पापी व्याध पर डाली
दृष्टि शापाग्नि की कड़ी ।

'मा निषाद, प्रतिष्ठां त्व -
मगमः शाश्वतीः समा
यत् क्रौञ्चमिथुनादेक -
मवधीः काममोहितम्' ।

[संशाश्वती प्रतिष्ठा को
प्राप्त हो न निषाद तू !
क्रीड़ास्थ क्रौञ्च, क्रौञ्ची को
दे चला प्रविषाद तू' !]

अकस्मात् छान्दसी वाणी
निकली मुनिराज के;
ब्रह्मा सुसाधुता देने
आये साथ समाज के।

बोले 'आदि कवि होगे
आगे को विख्यात तुम;
रोप दो लेखनी - द्वारा
लोकोत्तर काव्य - द्रुम'।

'महाकाव्य? कभी मैं ने
लेखनी पकड़ी नहीं;
दृष्टि हंसाधिरूढ़ा की
मेरी ओर पड़ी नहीं।

मुझको काला अक्षर
है बराबर भैंस के;
सर्वथा निरक्षर भी
काव्य क्या कर हैं सके?

बाल्य बीता क्रीड़न में,
युवा औद्धत्य में गया;
जाना मैंने नहीं ब्रह्मन्!
कौन चिड़िया है दया?

दिन दहाड़े पान्थों को
बेधड़क था लूटता;
काला दुर्व्यसन मेरा
क्या जीवन में छूटता?

सप्त ऋषियों के द्वारा
चक्षु मेरे मुँदे खुले;
दूर हो हिंसा-पथ से
अहिंसा-पथ में ढुले।

पाप के फल का साथी
कोई भी न मुझे मिला;
मैं ने भी समझा अच्छा-
छुटकारा तुझे मिला।

बना मैं पुण्य का भागी,
दी तिलाञ्जलि स्वार्थ को ;
साधने वन में आया
अकेले परमार्थ को।

खगों की दुर्घटना से
भर आया मेरा गला ;
जानता न मैं इस में
है कविता की क्या कला'?

'कविता है वही सच्ची
जो स्वतः उर से रसे ;
सर्वदा को मनुष्यों के
चित्त में चित्रवत् बसे।

कवि की कल्पनायें ही
रसालङ्कार - रूप हैं ;
कवि की लेखनी, वाणी
होती एक अनूप हैं।

कवि की पाठशालायें
शून्य में लगती सदा ;
शक्तियां हृद् - प्राङ्गण में
रहती जगती सदा ।

शब्द ओस - सरीखे आ -
पड़ते सामने स्वतः ;
इष्ट भाव-प्रसूनों को
खिलाता चलता ततः ।

भार्गवेश, अतः किञ्चित्
त्रुटियों से डरो नहीं ;
अर्थवान् 'रत्नाकर' का
नाम व्यर्थ करो नहीं ।

हो मुनि - रत्न वैसे तो ,
कहाओ कवि-रत्न भी ;
देखे प्रयत्नशीलों के
क्या निष्फल प्रयत्न भी ?

प्रेय - आश्रयिणी गा दो
राम की चरितावली ;
श्रेय - आश्रयिणी गा दो
राम की चरितावली ' ।

' कौन राम ' ? ' रमे जो हैं
भक्तों के प्रति रोम में ;
जलस्थलों कणों में क्या ?
अणुवणु , रवि , सोम में ।

जिन्हें प्रत्येक श्वासों में
जपते थे ' मरा - मरा '
वही राम बनायेंगे
अयोध्या स्वर्ग की धरा ।

आह से गान है गाया ,
हो सकता क्या अन्यथा ?
भाविनी ' वीणाधर ' से
पूछ लो पावनी कथा ' ।

चले महर्षि आभारी
नारदाङ्कित पन्थ को ;
प्रागवतार माला में
आ गूँथा काव्य-ग्रन्थ को ।

धन्य था करारविन्द, धन्य मसीपात्रबिन्दु
धन्य बनी ओजमयी भोजपत्रिकावली
धन्य बने शोषक अनन्य वालुका के कण
धन्यवार जिसमें विचार-लेखनी चली
विना श्रम क्रम से सजाती चुनचुन पृष्ट
धन्य थी विशेषण, विशेष्य, शिष्य-मण्डली
धन्य था मृगासन, विकासन कुटी का धन्य
आश्रम था धन्य तथा धन्य थी बनस्थली

चतुर्थ सर्ग

वनस्थली से अनतिदूर पर
अवधराज - धानी थी ;
राम - राज्य था अतः प्रजा भी
सुखी , शान्त , ज्ञानी थी ।

निज मर्यादा की रक्षा का
था अधिकार सबों को ;
मर्यादापुरुषोत्तम का था
सुविवृत द्वार सबों को ।

सर्व - सूचना थी - शासन में
त्रुटि जो बतलायेगा,
दण्ड नहीं, वह राज - कोष से
पुरष्कार पायेगा'।

अन्तरङ्ग वहु चतुर गुप्तचर
इसी निमित्त नियत थे;
कौन भूप को क्या कहता है ?
लेते भेद सतत थे।

यदा कदा श्रीराम स्वयं भी
वेश बदल कर अपना,
छिपे देखते थे 'क्या पुर की
प्रजा देखती सपना' ?

बीते वर्ष अनेक एक भी
अनय न आया श्रुति में;
पड़ा उपेक्षित पुरष्कार था
कहीं गहन अच्युति में।

बुरा पारितोषिक - प्रलोभ है,
कहना ही पड़ता है;
प्राप्ति - हेतु दुर्बुद्धि ईश की
सत्ता से लड़ता है।

आदि कवीश्वर ने जिन की है
की स्व-काव्य से अर्चा,
उन के ही कुछ गुण, दोषों की
चली रजक - गृह चर्चा।

गृहिणी बोली – 'किसे मिली कब
गृह - कलहों से कल है?
देखो, अवध - राजदम्पति में
कितना स्नेह विमल है!

बिछुड़ गये थे कुछ वेला को,
पूछा वन - वृक्षों से;
पूरा पता लगा कर माना
शाखामृग, ऋक्षों से'।

कहा रजक ने – ‘ महाराज की
त्रुटि मैं ही बतला दूँ ;
किन्तु विप्लवित कर राष्ट्र - श्री
शिर कलङ्क कैसे लूँ ’ ?

गृहिणी बोली – ‘ शब्द न यह फिर
निज रसना पर लाना ;
भनक पड़ी युवराज - कर्ण में ,
होगा कहाँ ठिकाना ?

‘ मर्म जानता हूँ मैं ’ इतना
था केवट कह पाया ;
चढ़ा लिया था बाण धनुष पर
दिङ् - मण्डल दहलाया ’ ।

विहँस उठा प्रक्षालक – ‘ पगली !
किस को सन्धि निशा में ?
हम दो के अतिरिक्त कौन है
इस एकान्त दिशा में ’ ?

देवी बोली — 'कौन सुन रहा ?
दीवारें सुनती हैं;
यही कभी ढह महिपालों के
महलों को चुनती हैं'।

गृह - पति बोला - 'अभी झोपड़ी
फुक जाये क्या चिन्ता ?
अन्तःपुर का जाना आना
रुक जाये क्या चिन्ता ?

ऐसा क्या युवराज - नियन्त्रण —
बोल न पाये कोई ?
स्वाङ्गण में मुक्त विमर्श के
रोल न पाये कोई ?

प्रकरण छिड़ ही गया यहाँ है
तब अब मैं कहता हूँ —
है कुछ कमी राजदम्पति में
यह कब मैं कहता हूँ ?

दुर्मुख ने दुर्जन की वार्ता
गुप्त रूप से सुन ली ;
'शान्त पाप हो, शान्त पाप हो'
कह कर छाती धुन ली ।

पैर न ड्योढ़ी पर बढ़ता था,
बढ़ता जाता चर था ;
'इस सेवा से मरना अच्छा'
पढ़ता जाता चर था ।

दुर्मुख को दुर्भाग्य अवध का
लाया खींच विवश कर ;
एकान्तस्थल लगे पूछने
समाचार अवधेश्वर ।

'अर्ध निशा में दुर्मुख, कैसे
हुआ तुम्हारा आना ?
आकृति पर घबराहट, उर में
उथल पुथल है नाना ।

प्रजा कुशल से तो है, दुख तो
उसे नहीं है कोई ?
आज साँझ से ही महलों में
फूट विडाली रोई।

है मेरा वामाङ्ग फड़कता,
जाने क्या होना है ?
प्रथम पिता - सा विभव खो चुका,
आगे क्या खोना है' ?

दुर्मुख बोला - 'राम - राज्य में
क्लेश प्रजा को कैसा ?
राजा दुःख उठा सकता है,
प्रजा - तन्त्र है अैसा ।

अब मैं ने अपने को समझा
राज्य - कार्य का किंकर;
इसी समय के लिये मुझे क्या
रख छोड़ा था प्रभुवर ?

बन्दी मुझे बना कर रखिये,
चर - पद से मैं ऊबा;
मेरी स्वामि - भक्ति के कारण
सब का तारा डूबा।

एक नयन में अश्रु - मालिका,
एक नयन में स्पन्दन;
वाणी में लग रही तालिका,
उर में करुणा - क्रन्दन।

एक ओर कर्त्तव्य, दूसरी
ओर महा मानवता;
कहने में धिक्कार रही है
कोटि वार दानवता।

महाराज के निर्वासन में
बनी मन्थरा कारण;
सीता - निर्वासन में कारण
है दुर्मुख साधारण'।

कहा राम ने—'मा कैकेयी
तो सब विध हैं सुख से ?
सीता का निर्वासन कैसा
सुनता हूँ दुर्मुख से ?

सीता के विरुद्ध क्या कोई
है सम्वाद असंजुल'?
'अतः परं किम्' कहकर दुर्मुख
गिरा चरण पर आकुल।

कहा राम ने—'दुर्मुख-सा है
मुझ को भी संघर्षण;
युगल प्रश्न आपड़े सामने
दुर्भीषण, दुर्धर्षण।

हैं सीता-पति राम उधर, तो
राजा राम इधर हैं;
दोनों ओरों में से देखो
जाते आज किधर हैं ?

समझ सका मैं आज, राजपद
है सोने की बेड़ी;
अपने स्वर में बज उठती है,
जहाँ तनिक भी छेड़ी।

यह सिंहासन क्या है? विष का
एक भरा है प्याला;
सुधा समझ कर पी जाता है
झट भू-पति मतवाला।

राजा एक उच्च पर्वत की
है चट्टान-सरीखा;
निज संयम का पाठ प्रकृति से
निशि दिन उसने सीखा।

आतप में तपता त्रिताप से,
आँधी में है झुरता;
वर्षा में आघात झेलता,
हिम में पड़ा ठिठुरता।

राजा बनने को मनुष्य की
नहीं चाहिये आत्मा ;
इस के लिये सदा राक्षस की
कहीं चाहिये आत्मा ।

सजते ही संभार राज्य का
बुद्धि व्यसन में फँसती ,
अन्तर्पट में अन्तराय के
मूक क्रान्ति है हँसती ।

कहने को अभिषेक - काल में
विभव चरण सेते हैं ;
जल के साथ कलश विपदायें
शिर उड़ेल देते हैं ।

अरे , अयोध्या - निवासियो , हूँ
मैं भी अवध - निवासी ;
मेरी इच्छा सदा रही है
प्रजामात्र की दासी ।

राज-धर्म मैं ने प्रतिपाला ,
हटा न कभी पिछाड़ी ;
फिर क्यों फूली फली उजड़ती
है मेरी फुलवाड़ी ?

थकित नहीं , मैं एक चकित हूँ ,
जगत् बहुत अद्भुत है ;
रहता नहीं प्रसन्न किसी से ,
दल करता प्रस्तुत है ।

मुझ से भूल हुई भी है तो
कितनी भूल हुई है ?
सब के मत से नहीं , रजक के ,
जितनी भूल हुई है ।

इस का प्रायश्चित्त प्रिया के
परित्याग से होगा ;
किया हाय अपराध किसी ने ,
दण्ड किसी ने भोगा !

अरे हृदय, तू पत्थर बन जा,
सीता - त्याग सहन कर;
प्रजा - मध्य भड़कती हुई यह
अनुचित आग सहन कर।

सीते, अब न प्रतीक्षा मेरी
करना राज - महल में;
अभी - अभी तुम को जाना है
किसी गहन जंगल में।

क्षमा करें धृष्टता मैथिली,
जीवन भर न सका मैं;
पाणिग्रहण - प्रणय - वचनों को
पूरा कर न सका मैं।

मिथिला से नाता ही मेरा
है आगे को टूटा;
जीवन का साथी जीवन के
पहले मुझ से छूटा।

सम्भव है - अपने मन को कुछ
साहस बँधा सकूँ मैं ;
है सामर्थ्य कहाँ विदेह को
ढाढस बँधा सकूँ मैं ?

प्रकृति - पटी पर पड़ी न जिनके
विश्व - मोह की रेखा ,
उन्हें विदा के समय दृगों से
नीर बहाते देखा ।

श्वश्रु सुनयना की प्रिय थाती
रक्षित रख न सका मैं ;
पूर्व - शाप का फल क्या नारद !
अब भी चख न सका मैं ?

किया मुझे मा कैकेयी ने
अच्छा निर्वासित था ;
लोग कुछ कहें , उस में मेरा
भारी हित ही हित था ।

एक भरत के भ्रातृ-प्रेम ने
राजा मुझे बनाया ;
उत्तरदायित्वों की दुर्गम
दल-दल बीच सनाया ।

भावुकता से क्षत्रिय-सुत को
बड़ा कर्म का पथ है ;
पथिक बन गया हूँ मैं जिस का,
कड़ा कर्म का पथ है ।

प्रजा-रूप में मैं भी होता,
कहाँ किसी की सुनता ?
छिद्रान्वेषण में धोबी क्यों
निष्फल माथा धुनता' ?

इसी तरह सोचते रहे प्रभु,
पल भर पल न लगाया ;
लक्ष्मण को उर्मिला-सदन से
सोते वेग जगाया ।

दिया निदेश 'प्रात से पहले
अवध त्याग दें सीता ;
राज - मार्ग की आशा तज कर
विपिन - मार्ग लें सीता' ।

लक्ष्मण बोले -- 'नीच - कथन से
क्यों प्रभु बनें वियोगी ?
भाभी को मैं तजूँ अकेली,
अब यह भूल न होगी ।

सभी ज्ञात, हरणोपरान्त है
किस विध जीवन बीता ?
दग्ध दुग्ध का फूत्कारों से
सदा तक्र है पीता ।

एक आप की आज्ञा की है
केवल मुझे प्रतीक्षा ;
कोई भी मेरे पौरुष की
कर ले घोर परीक्षा ।

सुरपति भी बोले विरुद्ध तो
उसे चढ़ा दूँ शूली ;
राज्याश्रित धोबी बेचारा
कौन खेत की मूली ?

एक फूँक में अभी उड़ा दूँ
उस की पड़ी झोपड़ी ;
एक शब्द भी मुख से काढ़े,
दूँ मैं तोड़ खोपड़ी ’।

कहा राम ने-‘ राजाज्ञा है,
पालन करना होगी ;
प्रजातन्त्र - साम्राज्य - प्रक्रिया
चालन करना होगी ’।

भावी - वश शेषावतार कुछ
भय से अधिक न बोले ;
अग्रज की आज्ञा के आगे
देव बन गये भोले ।

पूर्ण रूप में डुल उठते तो
डुल उठती स्मृति सारी ;
सत्य पक्ष में भू - तनया के
डुल उठती स्मृति सारी ।

सच तो यह है—वनस्थली का
भाग्योदय होना था ;
वीर - व्रती के लिए भाग्य में
बदा सदा रोना था ।

सारथि बन कर स्वयं विवश हो
नगरी से रथ हाँका ;
गत वनगमन - समय का मा ने
चित्र चित्त में आँका ।

बोलीं - ' राग प्रथम - सा लगता ,
वह लय , मीड़ नहीं है ;
प्राणनाथ भी साथ नहीं हैं ,
जन की भीड़ नहीं है ।

सब से स्थिति सन्देहजनक है -
देवर चिन्तातुर हैं ;
है न तनिक उल्लास हृदय में ,
आकुल प्राण प्रचुर हैं ।

गहरी निद्रा में सुशान्ति की
पड़ा विश्व सोता है ;
किस की हीन दशा पर रह रह
मौन गगन रोता है ' ?

धीमी कर द्रुत गति तुरगों की ,
न्यग् विलोक कर स्यन्दन ,
बोले वचन निरुद्ध कण्ठ से
सरल सुमित्रा - नन्दन ।

' राज्य - चक्र चक्रार - पंक्ति - सम
है व्यावर्तित रहता ,
इङ्गित पर मानापमान है
निशिदिन नर्तित रहता ।

भित्ति वालुका की भी अपनी
कुछ रखती है सत्ता ;
क्या प्रतीति कब राज - सूत्र दे
उड़ा मूल से पत्ता ?

एक समय था , शिविका श्री की
सज - धज से थी कढ़ती ;
प्रतीहारियाँ भीड़ हटाती ,
सखियाँ थीं श्रुति पढ़ती ।

आज हटायी आप जा रहीं ,
संग न एक सहेली ;
मन्दभाग्य यह लक्ष्मण भी तो
देगा छोड़ अकेली ' ।

' क्या सच मुझे तजा प्रियतम ने ' ?
बोलीं रघुकुल - वामा ;
' अथ किम् ' लक्ष्मण साश्रु कह उठे,
वन - समीप रथ थामा ।

मृगी देख कर मृगनयनी को
तृण ढुँगना तज धायीं ;
मानो - परिचित पहले से थीं ,
रथ - समीप घिर आयीं ।

खड़े देखते स्तब्ध लता , तरु ,
पल्लव पलक लचाये ;
बस , रह गये चञ्चु - पुटिका में
चुग्गा विहग दबाये ।

सम्वेदना विराव दिशा की
पंगु पवन रोके था ;
वनज - वृन्द को झुला मौज के
ले न रहा झोके था ।

वेगवती सुरसरी - सलिल - गति
ठहर गयी कुछ वेला ;
कल - कल का सन्देश भुलाया ,
कर न सकी अवहेला ।

अविरल धारा नत नयनों से
अश्रवों के बह निकली ;
अन्तस्तल की विकल उदासी
अन्तस् से कह निकली ।

कृशित भार से थीं दोहद के,
प्रिय - वियोग की पीड़ा ;
जर्जर को जर्जरतम करने
उठा रही थी बीड़ा ।

थे न आज पर्यङ्क त्याग कर
हिलने डुलने के दिन ;
रथ पर आरोहण, अवरोहण
अह ! कितना था प्रकठिन ?

समय पड़े दुर्दैव सभी कुछ
कार्य करा लेता है ;
शूल - मूल प्रतिकूल कूल पर
नीर भरा लेता है ।

सहारा ले सीता
सरल हरिणी - पृष्ठतल का,
धरा में लार्थी ही
पग, श्रमवशात् स्वेद झलका ;
कहेगा क्या कोई
करुणतम वृत्तान्त थल का ?
पछाड़ें खा बैठे
दिनमणि, पड़ा तेज हलका ।

पंचम सर्ग

अद्भुत गति लख जड़, चेतन की
जड़वत् बन सौमित्रि गये;
करी - कलभ - सम शोक - पङ्क में
नखशिख सन सौमित्रि गये।

'मानवता कुचली जाती है
स्मृति में लोक - प्रपञ्चों की;
मानव, तेरा मूल्य रहा क्या
तुलना में तिर्यञ्चों की?

जाने कैसे उर में धारण
धैर्य किये है सान्ध्य गगन ?
भर भर रक्त-विन्दु अभ्यन्तर
रोती है सन्ध्या उन्मन।

कण-कण सिहरा प्रकृति नटी का,
है विषाक्त आश्चर्य अहा !
वज्र-हृदय लक्ष्मण, धिक्, टिक टिक
नाट्य देख असुखान्त रहा !

यदि इस पर भी जीवित लौटा,
तुझ-सा और निलज्ज नहीं;
कहीं चुल्लिका भर जल में क्यों
जाता अरे, निमज्ज नहीं'?

नेत्र तिलमिला उठे सोचते,
सुधि न रही अपने तन की;
रुक-सी गयी निमिष भर हृद्-गति,
तोड़ शृङ्खला जीवन की।

वाजि - यन्त्र छूटे कर - तल से,
सूखे किशलय - अधर मृदुल;
मूर्च्छित होकर गिरे मही पर,
उथल - पुथल थे प्राण पृथुल।

कहीं धनुष था, कहीं बाण था,
तनुत्राण, तूणीर कहीं?
सैन्धव सधे हुए थे, इस से
आयी भारी चोट नहीं।

प्रवासिनी भूलीं स्व - वेदना,
क्या से हुई अवस्था क्या?
निर्जन में समुचित भेषज की
करतीं अन्य व्यवस्था क्या?

शनैः - शनैः नीवार - लता का
दे कर कर को अवलम्बन,
लायीं नीर पर्ण - पुट में भर,
करने सम्मूर्च्छना शमन।

व्यजन झला निज उत्तरीय का,
विन्दु - विन्दु मुख में छोड़ा;
आकृति पर आभास मिला कुछ
गत चेतनता का थोड़ा।

कहा शनैः - 'शोभा कब देती
यह सेवा वन - देवी को?
ठौर नरक में भी न मिलेगा
वैसे ही पद - सेवी को।

देख न सकते करुण दृश्य दृग्,
क्यों वत्सले, जगाती हो?
इस निष्ठुर से वत्स - भाव में
स्नेह निरर्थ लगाती हो।

मुझ से पामर का जगती से
उठ जाना श्रेयस्कर है;
शव गृध्रों के हेतु धूलि में
लुठ जाना श्रेयस्कर है।

किन्तु करूँ क्या युक्ति न कोई
ऐसी हाय सुझाती है?
मृत्यु घृणाती, तनु - छाया तक
छूने को न रुझाती है।

किस रसना से कहूँ रसा से,
कर मेरा अपराध क्षमा?
समा रसातल में जाने दे,
दिखा न दुख की घोर अमा।

क्यों स्वीकार प्रार्थना होगी,
सोचो, जिस का प्रकरण ले,
सुता उठाये क्लेश और मा
रोष भुला दे, स्व - शरण ले?

यह क्या कम है – भार अघी का
सहन कर रही वसुन्धरा?
निःसन्तति कब समझ सकेंगे
कियद्द् बृहद्द् प्रविषाद भरा?

समय हो चला, श्वापद्, विचरो,
विपद् हरो, उपकार करो;
कर प्रहार इस निस्सहाय के
जीवन का उद्धार करो।

जिस का कोई नहीं जगत् में,
विना क्रिया के मृतक रखा;
उस की मिट्टी ठीक ठिकाने
तुम ही देते लगा सखा!

बढ़ो शृगालो, तुम पाओगे
जीवित-मांस कहाँ यह फिर?
क्यों न आज पूरी कर लेते
अपनी अभिलाषायें चिर?

डरो न कार्मुक, शिलीमुखों से,
इन में अब वह शक्ति नहीं;
स्वयं विरागी बने पड़े हैं,
मृगया में अनुरक्ति नहीं।

सिंहो, किस द्विविधा में करते
क्यों विक्रमण - प्रयास नहीं ?
जग में कोई कुल - घातक का
उह, लाता विश्वास नहीं !

हिंस्रक ममता भरी दृष्टि से
आर्या की दिशि देख रहे ;
कर मेरी विनती उल्लंघन
करुण दृश्य उल्लेख रहे'।

इस प्रकार विक्षिप्त दशा में
करते रहे विलाप कठिन ;
सीता के अतिरिक्त कौन था,
जो सुनता सन्ताप कठिन ?

जानु टेक जान्हवी - पुलिन पर
जा बैठे तद्वत् चिन्तित ;
विस्मृतियाँ स्मृतियों में सहसा
होने लगीं स्वतः परिणित।

'यद्पि अनन्त - रूप में मेरी
थी स्वभावतः गति तिर्यक् ;
कलुष - विपथिका में फँसने से
तद्पि रहा सर्वथा पृथक् ।

कौन पाप का डूबा तारा
अरे, अचानक हुआ उदय ?
प्रलय - काल - सा चित्र खिचा है,
धर्म खोजता है स्वाश्रय ।

शूर्पणखे, मैं समझ रहा हूँ -
तेरा यह अभिशाप नहीं ;
अनुपकार भी कभी कभी सुख
देता पश्चात्ताप नहीं ।

इसी पाप से मुझे छुड़ाने
तू ने युद्ध छिड़ाया था ;
जो जिस के था योग्य, उसी से
उस का जोड़ भिड़ाया था ।

सुख से था सो गया समर में,
दुःख न यह सहना पड़ता;
आर्या से वन-वृत्त कदाचित्
मुझ को क्यों कहना पड़ता?

शक्ति वेध कर मेघनाद ने
था उपकार अतीव किया;
मारुति ने क्या वैर न जाने
कब का मान, सजीव किया?

सम्भवतः पम्पा पर मैं ने
उठा बाण सक्रोध लिया;
अनुचित लगा सचिव के नाते,
अवसर पा प्रतिशोध लिया।

यह पद होता ही ऐसा है,
किसी एक को दोष नहीं;
मैं ने क्या मन्त्रीत्व-भार ले
भरा पाप का कोष नहीं?

जिस का दुष्फल किसी योनि में
कभी न भोग सकूँगा मैं;
कण - कण अणु - अणु धिक्कारेगा,
किस की ओट तकूँगा मैं?

भूल भरत से हुई तनिक - सी
क्यों संजीवन लाने दी?
शर से शैल न खण्ड - खण्ड कर
घड़ी कठिनतम आने दी।

रे, द्रोणाचल, तू भी पागल,
पाहन हो कर पिघल गया!
पुष्प - सदृश उठ चला सहज में,
क्यों न हाथ से फिसल गया?

कर निदान पीयूष - पाणि ने
क्षणिक सुकीर्ति कमा ली है;
मेरे लिये सदा को जग में
जड़ कलंक की डाली है।

निष्फल युगल तनय - हित मा ने
सही प्रसव की परिपीड़ा;
मुझे न उपजाती जग में तो
क्यों जाती कुल की व्रीड़ा ?

रजक, सनक सूझी क्या तुझ को,
मेटा सुकृत अटल अपना ?
कितनों के मल मल पट धोये,
धुला न हृदय - पटल अपना।

पुरस्कार का यदि इच्छुक था,
कहता, ठहरा मैं देता;
तेरे आँगन में रत्नाकर
ला कर लहरा मैं देता।

तेरा एक विनोद बना है
कितनों का ही परिरोदन;
क्यों हठ पकड़ गया, पत्नी ने
किया नहीं जब अनुमोदन ?

निज दम्पति का कलह - भार क्यों
अन्य सुदम्पति पर डाला ?
लाञ्छन देते समय न मुख में
लगा लिया था क्यों ताला ?

केवल कह कर पृथक् हुआ तू ,
है कलङ्क मेरे ऊपर ;
जन - समाज अधवल धारा से
क्या शिक्षा लेगा भू पर ?

मुझे बनाया कर्णधार क्यों ?
ओ , प्रलयान्तर के गायक !
क्षोभ भरी तरणी खेने को
क्या न अन्य था उपनायक ?

तुम ने भी तो मुझे उर्मिले ,
चलते समय नहीं रोका ;
वीर - वधू का व्रत प्रतिपाला ,
नहीं अमङ्गल - भय टोका ।

त्याग, शील, सौजन्य प्रियतमे !
करूँ कहाँ तक मैं वर्णन ?
तुम ने अपनी इच्छाओं का
किया अहर्निश क्या न दमन ?

चौदह वर्ष प्रिये, तुम ने किस
साहस, बल से काटे थे ?
लोक - वासना के प्रगर्त निज
पातिव्रत से पाटे थे।

मेरी इच्छा के विरुद्ध तुम
कभी न किञ्चिन्मात्र चलीं;
अतिशय दुष्कर स्वामि - भक्ति में
मुझ को ढाला, स्वयं ढलीं।

एक दिवस था - जब मैं वन से
लौट अवध को आया था;
प्रिये, तुम्हारा हृदय हर्ष से
फूला नहीं समाया था।

मेरे शुभ स्वागत में तुम ने
क्या - क्या साज सजाये थे ?
मेरी प्रणय - प्रतीक्षा में मृदु
अपने नयन बिछाये थे।

कर अद्भुत शृंगार मनोहर
थी सुहाग की माँग रची ;
देख रूप, लावण्य, पतिव्रत
लजा रही थी सती शची।

लिये आरती राजभवन पर
सखियों के थीं संग खड़ी ;
वन - वेशी के शुभ दर्शन की
थी उर में लालसा बड़ी।

मेरे जीवन के मंगल - हित
थे मंगल - व्रत अमित रखे ;
फलाहार को छोड़ अन्न के
रसना से न पदार्थ चखे।

हे मधुभाषिणि, तुमने अपना
ऐसा मधुर स्वभाव चुना;
मैं ने कभी किसी को मुख से
कटु वाणी कहते न सुना।

मेरे इस कुकर्म को कैसे
प्रेयसि, आज सराहोगी?
सच कहता हूँ - अब तो मेरा
मुख न देखना चाहोगी।

शुभे, तुम्हारी सहोदरा को
बीहड़ में ला डाला है;
अपना नहीं, सकल कुल का भी
हाय किया मुख काला है!

साध्वि, पता क्या - इस अनर्थ को
मुझे जगाया दादा ने?
कहाँ न टेढ़ी चाल चली है
ऊँचा पद पा प्यादा ने?

सचिव सुमन्त्र, सुकृतिशाली हो,
बचे आप इस दुष्कृति से;
पुर सूना रथ लाते जाने
काम लिया था किस धृति से?

किसे वृथा अपराध लगाऊँ?
केवल मैं हूँ अपराधी;
क्यों शिर ऐसी आज्ञा ओढ़ी,
क्यों न सुमौन-वृत्ति साधी?

री मति, किस कुचक्र में पड़ कर,
कर क्या क्रिया नीच डाली?
एक कालिमा धुल न सकी थी,
और कलङ्क-कीच डाली।

रे दुर्दैव, दया तुझ को भी
तनिक नहीं मन में आयी?
असत् जनापवाद की चर्चा
अर्चनीय तक पहुँचायी।

अहह ! तात, करुणामय होकर
कैसा दारुण प्रण ठाना ?
मृदुल भावना को न किसी की
जगज्जाल में पहचाना ?

निरपराध, निर्दोष, निराश्रित
त्यागी दिव्य विभूति गयी ;
परम्परा के लिये अभागी -
हो इक्ष्वाकु - प्रसूति गयी ।

शून्य हो गया अवध सदा को,
शून्य हो गया राज - निलय ;
शून्य हो गया अजिर रुचिरतर,
शून्य हो गया युवति - निचय ।

शून्य हो गयी मिथिला नगरी
तीनों लोकों से न्यारी ;
शून्य हो गयी युगान्तरों को
गोद सुनयना की प्यारी ।

अहह ! पूर्ति त्रिकाल असाध्य है,
क्षिति - तले अब जो क्षति है हुई ;
क्षितिज - सी मति क्या यति पा रही ?
सृप्, छुछुन्दरि - सी गति है हुई ।

अगम है तट ही दुख - निम्नगा,
गिर गया धृति का पतवार है ;
सुकृति की बहती फिरती तरी,
बहुत दूर अभी मँझधार है'।

षष्ठ सर्ग

सीता ने सोचा — 'वीर - व्रती
लक्ष्मण हैं आज अधीर - व्रती ;
अपने प्राणों को छोड़ न दें ,
सुर - पुर से नाता जोड़ न लें' ?

तत्काल अतः सन्निकट गयीं ,
क्या भूल न संकट विकट गयीं ?
'हे वत्स , हृदय में धैर्य धरो ,
रथ ले जाने का यत्न करो ।

मुँह बाँधे घोड़े कब से हैं,
तृण हाय न तोड़े कब से हैं ?
हो सावधान गृह को जाओ,
आकूत स्वान्त में मत लाओ।

हे पुत्र, तुम्हारा दोष नहीं,
अपने पर लाओ रोष नहीं;
दुर्भाग्य अकेले मेरा है,
जिस ने जीवन भर पेरा है।

इतना ही है सन्तोष मुझे,
धोबी ने विष के वचन बुझे
माना, मनमाने मुझे कहे,
रघुवर उन पर आरूढ़ रहे।

त्यागा न किन्तु मुझ को मन से,
है प्यारा कौन प्रजा जन से ?
राजा का है कर्त्तव्य अेक,
जनता की रक्खे सदा टेक'।

लक्ष्मण आँसू पोछते हुए,
अङ्गरखा अंगोछते हुए;
बोले 'जननी सच कहती हैं,
प्रभु के आशय को गहती हैं।

लोकापवाद से त्यागा है,
कितने विषाद से त्यागा है?
यह विभु का है जानता हृदय,
मा का भी है मानता हृदय।

चलते पर है सन्देश दिया -
'क्यों श्री को वन का वेश दिया?
इस का भागी है प्रजातन्त्र,
जिस का जपता मैं महामन्त्र।

है जन्म लिया तुल्यान्वय में,
हो पीछे नहीं गुणान्वय में,
सुख, दुख में सहवासिनी रहीं,
सङ्कट में मृदु हासिनी रहीं।

है चरित तुम्हारा निष्कलङ्क ,
क्या कोई सकता मार डङ्क ?
रावण - गृह रहने के कारण ,
है सिंहासन से अवतारण ।

पर मेरी हृदय - राजधानी ,
अब भी तुम को कहती रानी ;
मेरे वियोग में हे सीते !
थे वर्ष तुम्हें कितने बीते ?

यह भी कुछ वर्ष बिता लेना ,
ऋषियों को बना पिता लेना ;
माना कि अवध से चली गयीं ,
निश्चय ही मुझ से छली गयीं ।

सम्बन्ध किन्तु है घटा नहीं ,
अर्धाङ्ग किसी से हटा नहीं ;
अधिकार तुम्हारा संग प्रिये !
कह रहा तुम्हारा अंग प्रिये !

अधिकारों की करना रक्षा,
जब तक पायें न उच्च कक्षा;
मैं व्यापक हूँ किस ठौर नहीं?
हैं भक्त लोग जिस ठौर नहीं।

भक्तों की जहां मण्डली है,
मेरी भी वहां मण्डली है;
रखना मन में विद्रोह नहीं,
तजना प्राणों का मोह नहीं।

अपराधी मैं ही हूँ केवल,
कहता हूँ कर ले गंगा-जल;
हे प्राण-प्रिये, मेरे कारण,
आक्षेप पड़ा करना धारण'।

सन्देश श्रवण कर स्वामी का,
सत्कथन मान अनुगामी का;
मातृ-श्री, दुर्गा, कल्याणी
बोलीं निर्लेप मधुर वाणी।

'हो चुकी अग्नि में मैं विशुद्ध,
फिर क्यों सोचा मेरे विरुद्ध ?
विश्रुत वंशज का कुलाचार
क्या यह ही है धर्मावतार !

प्रभु का न हृदय उद्दङ्कनीय,
है भाव-दोष निःशङ्कनीय;
मेरे ही जन्मान्तर-पातक
बन गये मुझे बाधक, घातक।

रक्खूँगी ऊर्ध्व विशिष्ट दृष्टि,
तप लूँगी सूर्य-निविष्ट-दृष्टि;
जननान्तर में भी बनें आप
मेरे भर्त्ता, न वियोग-ताप।

क्षत्राणी को तो अन्त-समय
वैसे ही है अरण्य निश्चय;
जो कल होना था आज हुआ,
है श्रेय, शीघ्र शुभ काज हुआ।

मैं ने था स्वयं प्राणधन से
माँगा ऋषि, मुनि - दर्शन मन से,
लक्ष्मण, है एक रहस्य और,
अवशिष्ट रहा जिस से न ठौर।

मेरे सब कर्म करा डाले,
कितने हैं नाम धरा डाले?
कुल - कलंकिनी कह कर छोड़ा,
अवधेश - सङ्ग रह कर छोड़ा।

अवसर पा कर राज्य - श्री ने,
मेरी सपत्नि बन निर्ही ने
यह रूपक आज दिखाया है,
धावक को हेतु बनाया है।

है सचमुच लक्ष्मी क्लेश - मूल,
मद में जाता नर धर्म भूल;
अज्ञान - पाश लेता लपेट,
है महाकठिन इस की चपेट।

आपस में देती डाल फूट,
सम्बन्ध टूट जाते अटूट;
चल स्वार्थ - प्रलोभन की कुचाल,
कर देती शिर पर खड़ा काल।

योगी जन की है शत्रु परम,
वञ्चना सदा है लक्ष्य चरम;
करती स्वजन्म - भू से विहीन,
रहता न नरेश्वर सुखासीन।

अघ - गर्तों में देती ढकेल,
ज्ञानी रखते इस से न मेल;
कानन का देती कठिन वास,
सहना पड़ता किस को न हास?

इस का कुछ पश्चात्ताप नहीं,
मैं घर में रहती आप नहीं;
इतना ही मुझ को खेद रहा,
स्वामी ने स्वयम् न भेद कहा।

वह केवल मुझ से कह देते,
तत्क्षण आज्ञा पालित लेते;
गृह का प्रबन्ध बतलाती मैं,
सासों से कह सुन आती मैं-

प्रियतम की देख-रेख रखना,
मेरा सम्मुख न लेख रखना;
मेरे विछोह में प्राणनाथ
कर्त्तव्यों से धोयें न हाथ।

प्रभु से कहना विनती मेरी,
मुझ को समझें अपनी चेरी;
मैं अश्रु स्मृति में बहा रही,
हूँ पूर्व पर्व से नहा रही।

मैं एक प्रेम की हूँ प्यासी,
कब दर्शन पाये यह दासी?
श्रीचरणों में कहना प्रणाम-
हे दयाधाम, हे पूर्णकाम!

जब जली न वन्हि - परीक्षा में ,
मरने की रही प्रतीक्षा में ;
तब अब क्या प्राण गँवाऊँगी ?
मैं कायर नहीं कहाऊँगी ।

इस रघुकुल - सन्तति के कारण
मैं किये स्व - जीवन हूँ धारण ;
अन्यथा मृतक से बढ़ कर हूँ ,
बच जाती वलि पर चढ़ कर हूँ ।

निज वंश - बेलि को भुला न दें ,
भावी स्वप्नों को सुला न दें ;
है जहाँ आप की अन्य प्रजा ,
इस को भी समझें वन्य प्रजा ।

वर्णाश्रम - पालन मनु - प्रणीत ,
करता आया है युग अतीत ;
अनुगा को मान प्रजा अपनी
रक्खें रक्षा की छाँह घनी ।

हाँ, मुख्य बात तो छूट गयी,
सन्देश-शृङ्खला टूट गयी;
कह गयी भूल में स्वार्थ-विषय,
कहने को थी परमार्थ-विषय।

हैं पिंजड़े में तोता, मैना,
उड़ने को फैलायें डैना;
कोई खिड़की से उड़ा न दे?
सीता का नाता छुड़ा न दे।

फिर मेरा कौन नाम लेगा?
सुन कभी उदार धाम लेगा;
मेरी अनुपस्थिति में हुड़कें,
मत दासी, दास उन्हें घुड़कें।

नित नहला धुला समय पर दें,
उच्छिष्ट खिला न प्रलय कर दें;
परिपक्व, सरस फल, भोजन दें,
जल कभी न विना प्रयोजन दें।

पीने को क्या आँसू कम हैं ?
पक्षी कम रखते संयम हैं ;
माताओं से कह दें - वह भी
निज दया - दृष्टि लें डाल कभी ।

यद्यपि यह उल्टी सेवा है ,
सुरसरि के बदले रेवा है ;
मैं आयी अवध जनकपुर से ,
माताओं ने रक्खा उर से ।

कुछ दिन लज्जा में बीत गये ,
शुभ हारे , दुर्दिन जीत गये ;
वन से लौटी , गृह - कार्य लगा ,
झंझट देते थे आर्य लगा ।

सेवा का समय जहाँ आया ,
ले मुझे अभाग्य यहाँ आया ;
मेरी धृष्टता क्षमा कर दें ,
जब अपनी दृष्टि मूल पर दें -

तब इतना रक्खें और ध्यान,
है ब्याज मूल से मूल्यवान्;
जिस को लें नित्य उषा माता,
सुरभी-सी कामदुघा माता।

मैं समझूंगी कुछ उऋण हुई,
जग की आँखों में अतृण हुई;
तुलसी मेरी संस्थापित हैं,
अब मेरे विना निराश्रित हैं।

जल विना न कहीं सूख जायें?
पड़ शीत न शशि-मयूख जायें;
रवि-वासर को न छुए कोई,
दल अपने आप चुए कोई-

जो चाहे ले आह्लादों में,
पञ्चामृत, देव-प्रसादों में;
सायं प्रातः नित पूजन हो,
घण्टा, शङ्खध्वनि-कूजन हो।

श्रुति - मन्त्रों से हो अभिनन्दन ,
कह दें मेरा अन्तिम वन्दन ;
हे तुलसी रानी , नमो नमो
ऋतुओं में सभी समान जमो ।

मैं प्रभु को छोड़ चली आयी ,
चिर - बन्धन तोड़ चली आयी ;
तुम हरि - प्रिये , न भूल करना ,
हरि की सेवा समूल करना ।

अन्यथा न संज्ञा स्त्री - वाची ,
व्याकरणों में होगी प्राची ;
है सखियों को दी सीख यही ,
माँगती आज भी भीख यही -

सब बनें सहेली प्रियम्वदा ,
कहलायें साध्वी वशम्वदा ;
अपनायें प्रिय अपने अपने ,
ये सखा सखी सब हैं सपने ।

कुछ रात चले, कुछ प्रात चले,
अज्ञात चले कुछ ज्ञात चले;
मिल कभी गये, हँस बोल लिये,
उद्गार हृदय के खोल लिये।

मेरा मत माया-मोह करें,
उर से गत माया-मोह करें;
निबटाने को कौड़ी-कौड़ी,
आयें न चली दौड़ी-दौड़ी।

मेरा जो धन है पास रखें,
मत रात दिवस उपवास रखें;
जो कुछ हो मैं ने दुःख दिया,
लौटाल मुझे दें सखी प्रिया।

मैं नहीं चाहती मेरे हित,
कोई दुख-द्वन्द्व सहे किंचित्;
सौमित्रि, शुभास्ते पन्थानः,
आस्ते दिनमणिः अस्तमानः'।

'रवि होता ही है उदय अस्त,
मा, क्यों करती हो मुझे त्रस्त ?
पाऊँगा धूल कहाँ पग की ?
कह चुकीं आप बातें जग की।

क्या आज्ञा है युवराज्ञी को ?
श्रुतकीर्ति माण्डवी प्राज्ञी को' ?
'माण्डवी, उर्मिला ज्ञानवती,
श्रुतकीर्ति एक हैं मानवती।

कहना, न खड़ी कुल-क्रान्ति करें,
मेरे कहने से शान्ति करें;
श्वश्रू - शुश्रूषा में सदैव,
संलग्न रहें विधिवत् तथैव।

मेरा उन को न अभाव खले,
बहनों का सुभग सुहाग फले;
इतना ही था संयोग लिखा,
क्या दिया विधाता ने न दिखा ?

बस, कहें भरत से जोड़ हाथ,
यह ज्येष्ठ भ्रातृ - जाया अनाथ;
माँगती आज है एक दान,
जिस का आजीवन रहे ध्यान।

मँझली माँ से कुछ कहें न अब,
कह डाला एक समय था जब;
माता फिर भी माता ही है,
सुख - दुख आता जाता ही है।

धर्मात्मा भरत कहाते हैं,
गुरु के आश्रम में जाते हैं;
मा अरुन्धती, श्रीमुनि वशिष्ठ
हैं वंश - क्रमागत यज्ञनिष्ठ।

यज्ञों की अग्नि न बुझने दें,
जैसे हो उसे सुलगने दें;
यह अध्वर की ही माया है,
आगे रघुवंश बढ़ाया है।

मेरी भी दो आहुति दे दें,
कोई न सही, मारुति दे दें;
उन का मुझ पर उपकार बहुत,
सुतवत् करती हूँ प्यार बहुत।

शेषावतार, पुर को जाना,
मत आञ्जनेय पर झुँझलाना;
मिलजुल प्रभु की सेवा करना,
है जन्म मुझे यों ही भरना'।

सीता का यह कह भरा कण्ठ,
लक्ष्मण बोले थर्थरा कण्ठ;
'वन-वृक्षो, मैं तो हूँ जाता,
दीं सौंप तुम्हें सीता माता।

तुम से न मार ने शिर पायें,
दावानल प्रबल न घिर पायें;
दिक्पाल, कुवेर, सुरेश, यक्ष!
अबला का देना तज न पक्ष।

हे सिंहो, सुन लो कान खोल,
पत्ता न यहाँ पर सके डोल;
यह पुरुषसिंह की भार्या हैं,
दुर्गा, जगदम्बा, आर्या हैं।

हे अच्युत-चरण-तरंगिनि मा!
हे भक्तों की चिर-संगिनि मा!
हे भागीरथी, शरण देना,
भीतर धँसने न चरण देना।

देखो, अब किस दिन हो मिलाप?
ऋषियो, सुनना सीता-विलाप;
भगवान् किसी को भी ऐसा,
मत अवसर दे मेरा जैसा'।

यह कह साष्टाङ्ग प्रणाम किया,
शिर सती त्याग का भार लिया;
मुड़-मुड़ विलोकते जाते थे,
रथ अश्व रोकते जाते थे।

समय की शिला - लिपि समझ में न आती ,
पुरुष चाहता कुछ , प्रकृति चाहती कुछ ।

सलिल पर अमर चित्र कोई बनाता ,
कठिन प्राण की तूलिकायें फिराता ;
लहर की प्रगति एक पल में मिटाती ,
पुरुष चाहता कुछ , प्रकृति चाहती कुछ ।

चला चाहता एक राही अगाड़ी ,
हटाता महाविघ्न की क्रूर झाड़ी ;
निराशा लिये साँझ है झिलमिलाती ,
पुरुष चाहता कुछ , प्रकृति चाहती कुछ ।

किसी ने निशा - भर टटोला सबेरा ,
थकन ने पसारे चरण , लें बसेरा ;
किरण ठोकरें मार कर है उठाती ,
पुरुष चाहता कुछ , प्रकृति चाहती कुछ ।

सप्तम सर्ग

'लक्ष्मण, तुम भी चले गये तज
मुझ को यहाँ अकेली ;
भटक रही हूँ मैं अनाथ - सी ,
बिछुड़ीं सखी सहेली ।

मैं ने ही तुम को लौटाला ,
तुम ने क्या कर्त्तव्य न पाला ?

मैं अनुभव करती हूँ - तुम ने
कितनी पीड़ा झेली ?
व्यथा व्यष्टि की समझ सकी है
कब समष्टि अलबेली ?

जितनी ही मैं हूँ सुलझाती,
उतनी और उलझती जाती,

मेरे जीवन की जग में है
सब से कठिन पहेली ;
कञ्चन भी छूती हूँ दृग् से,
बनती मृण्मय ढेली।

तुम वन तक पहुँचाने आये,
देखो, भाग्य कहाँ पहुँचाये ?

काल - चक्र ने लोक - यातना
मेरे शीर्ष उड़ेली !
नाम जानकी ही फिर क्या है -
जो न जान पर खेली ?

है जगत् का सिन्धु गहरा ;
डूब कर मिलता किसी को
क्या कभी है दिन सुनहरा ?
है जगत् का सिन्धु गहरा ।

बहुत आये वीर मानव,
बोलते जय देव दानव ;
सर्वदा को पर किसी का
है यहाँ झण्डा न फहरा ।

हर्ष का ले कर बहाना,
पूर्णिमा पर क्या ठिकाना ?
बोर देता चाँद को भी,
प्रकृति यदि देती न पहरा ।

स्वार्थ को है शीघ्र सुनता,
मन्द्र स्वर को तीव्र सुनता ;
अन्य की वेला न क्या बन-
बैठता है आप बहरा ?

राह कैसे पा सकूँ मैं ?
थाह कैसे पा सकूँ मैं ?
यात्रिणी एकाकिनी हूँ,
और माँझी दूर ठहरा।

पथ कठिन मँझधार का है,
प्रश्न ही क्या पार का है ?
कूल पर ही लोल लहरें
हैं उठी प्रतिकूल लहरा।

एक हों झटके सहूँ मैं ?
पार ले चल, क्या कहूँ मैं ?
ठोकरें खा तरि भँवर से
है रही निज माथ सहरा।

ज्वार फेरा नित्य देता;
तलहटी में मौज लेता,
पूछती हूँ - वरुण, तेरा
क्यों गगन तक नाद थहरा ?

पर्व - पूनों की उजली साँझ,
मुझे लगती है धुँधली साँझ;
मेरे सुख के अधिकारों की
अन्तिम निकली साँझ।

अवनी तक अम्बर से ले कर,
बिछी चाँदनी करुणा में तर;
है अजस्र पृषदस्र बहाती,
दुख में पिघली साँझ।

काष्ठायें रोतीं पट खोले,
'मानव, पानी - पानी हो ले;
रख ले निज आँखों का पानी'
झिकती पगली साँझ।

उषा साँझ से नित कहती है -
'तुझ में मेरी रति रहती है;
तू है लाल, लाल मैं भी हूँ,
फिर क्यों बदली साँझ'?

मैं ने सब कुछ छोड़ा।
मेरी स्वतन्त्रता में कोई
मत अटकाये रोड़ा;
रजक - समान निगोड़ा।

निज संगिनी सगी छाया से,
सोयी हुई जगी छाया से,
प्रणय - तन्तु फिर जोड़ा,
कब इस ने मुख मोड़ा?

सब से मेरी चाह निराली,
आह निराली, राह निराली;
बहुत चलूँ या थोड़ा,
जग का बन्धन तोड़ा।

धीरे - धीरे पक आया है,
अन्तिम सीमा तक आया है;
अपवादों का फोड़ा,
अत्युत्पीड़न ओड़ा।

अब मैं बहुत दूर हूँ जग से।

आ पहुँची हूँ ठीक-ठिकाने,
क्या लौटूँ दो डग से?
वर्षों में छुटकारा पाया,
विश्व-मोह के ठग से।

मुझे न जाने, मैं परिचित हूँ,
जगती की रग-रग से,
कोई कितना क्यों न डिगाये?
डिग न सकूंगी मग से।

रे सुख-स्वप्न, समीप न आना,
करना बात अलग से;
बात कर रही हूँ नीड़ों में
सोये खोये खग से।

मेरे साज धरा पर बिखरे
पड़े हुए सगबग-से;
कैसे नानाघात झेलते?
बूझ रही हूँ नग से।

मैं मन प्रसन्न कर कहती हूँ -
मुझ पर मत दया करे कोई ।

मुझ को अपनी मस्ती अच्छी,
बल्कल - साड़ी सस्ती अच्छी,
उजड़ी पहली बस्ती अच्छी;

मुझ को है कोई डाह नहीं,
अपना घर नया करे कोई ।

हैं छये फूस के कुछ तिनके,
पहुँचा दे झंझा हों जिन के ?
मिट जायें झंझट निशिदिन के,

वानर न तोड़ दें नीड़ कहीं ?
यह चिंता बया करे कोई ।

मेरी क्या - मैं हूँ भूमि - सुता,
सर्वथा मानवी धर्म - युता,
जग मान रहा मेरी गुरुता;

मैं नहीं त्रपा करती, मेरी
निन्दा हेलया करे कोई ।

सच्चाई फिर सच्चाई है,
कब विजय झूठ ने पाई है?
न्यायालय, तुझे बधाई है;

मैं नहीं न्याय की भूखी हूँ,
निर्णय स्वेच्छया करे कोई।

पर-छिद्रान्वेषण कौन बात?
कोई भी दिन को कहे रात,
अन्धा भी लेता परख भात,

पहले अपने पर दृष्टि-पात
साधारणतया करे कोई।

मेरी मति मुक्ति मुझे देगी,
चाहूँगी भुक्ति मुझे देगी,
कुछ बतला युक्ति मुझे देगी;

कह जाऊँगी, देखो कुल में
मेरी मत गया करे कोई।

तारिकाओ, तुम वृथा
आकाश से क्यों टूटती हो?
दुःख होता है मुझे,
प्रिय बान्धवों से छूटती हो।

गोद भरती है निशा,
मोद भरती है निशा;
सान्ध्य वेला व्योम-वन में
मृदु कली-सी फूटती हो।

है वहाँ पर क्लेश क्या?
नियति का आदेश क्या?
स्वर्ग तज कर इस धरा पर
कौन-सा सुख लूटती हो?

देख लो मेरी दशा,
सह रही संसृति-कशा;
इस अधोगति के लिये
क्यों भाल अपना कूटती हो?

दुराग्रह मेरा किसी के प्रति नहीं,
मैं मनाना चाहती हूँ –
स्नेह - दीपक की दिवाली।

तिमिरमय मेरी कुटी चाहे रहे,
बात जुगनू की न मुझ से जग कहे,
वचन से मेरे किसी का उर दहे?

चाँद, तारो, तुम बुरा मत मानना,
मैं सजाना चाहती हूँ –
गेह - दीपक की दिवाली।

शोध लेना भाण्डपति, मिट्टी प्रथम,
व्यर्थ जावे वेग में तेरा न श्रम,
गूँदने में निठुरता करना न कम;

फिर सँजो कर आज रविकुल - ज्योति से
मैं जगाना चाहती हूँ –
देह - दीपक की दिवाली।

किसी जन्म का पाप क्या मैं विचारूँ ?
इसी जन्म का पाप कुछ कम नहीं है।

बिछाने मृदुल छाल प्रिय हेम - मृग की,
प्रलोभन नहीं कर सका क्षेम मृग की;
दनुज था कि पशु था, वही जान सकता ?
मुझे आज अनुताप कुछ कम नहीं है।

गया एक मेरे लिये वालि मारा,
विलपती रही खोल कर केश तारा;
दुखी के हृदय की प्रकट में नहीं, तो
छिपी आह का शाप कुछ कम नहीं है।

सुमित्रा - तनय - वाक्य मैं ने न माना,
पड़ा नाथ को हाथ रण में लगाना;
विदेशी जनों के रुधिर - तोयनिधि में
नहाया विशिख चाप कुछ कम नहीं है।

किसी के लिये मम चरित पर न शङ्का,
रही मैं बहुत मास - पर्यन्त लङ्का;
पराधीनता में निमिष भी बिताना,
कलङ्काङ्क की छाप कुछ कम नहीं है।

आत्म - शरण दे वसुन्धरे, मा!
अपने मिला रजस्कण में कर
दुःख - हरण दे वसुन्धरे, मा!
मुक्ति - वरण दे वसुन्धरे, मा!

आज शीर्ष का भार बनी हूँ,
जीवन से लाचार बनी हूँ;
इस अनाथ जीवन से जग में,
शीघ्र मरण दे वसुन्धरे, मा!

तू ने निज उर से उपजाया,
नोक झोक में हाथ बटाया;
फिर अपने उर में प्रवेश का
स्वाधिकरण दे वसुन्धरे, मा!

कल तक तू ने पूजे पग हैं,
अब मत छूना सूजे पग हैं;
सम्प्रति अपने पावन छूने
युगल चरण दे वसुन्धरे, मा!

बढ़, निर्मम, निष्ठुरा वेदना !
पता चलेगा, तुझे मिली है
कोई विरहातुरा वेदना !
भिड़, निर्मम, निष्ठुरा वेदना !

मैं भी देखूँ, क्या बल तुझ में ?
समझ रही निर्बलता मुझ में ?
चला हृदय पर छुरा वेदना !
उठ, निर्मम, निष्ठुरा वेदना !

देख लौटती है क्यों ठठरी ?
मैं कहती हूँ - तेरी गठरी
मैं लायी हूँ चुरा वेदना !
कह, निर्मम, निष्ठुरा वेदना !

दोनों ही का मेरा तेरा,
किसी जन्म का विना बिखेरा
पाप - वीज अंकुरा वेदना !
भर, निर्मम, निष्ठुरा वेदना !

चलते पर तू ने था छींका,
वहीं पड़ा मेरा मन फींका;
बैठा अधबर धुरा वेदना!
फँस, निर्मम, निष्ठुरा वेदना!

पड़ी एक करवट सोती है,
हँसती कभी, कभी रोती है;
इतनी क्यों पी सुरा वेदना?
जग, निर्मम, निष्ठुरा वेदना!

औरों का क्यों दया बहाने?
मेरा तेरा न्याय चुकाने
ताँता-सा है पुरा वेदना!
लख, निर्मम, निष्ठुरा वेदना!

अभी किये का फल पायेगी,
फेंकी तमसा में जायेगी;
समय न आये बुरा वेदना!
सुन, निर्मम, निष्ठुरा वेदना!

आज कोरी कल्पना पर
है टिका संसार मेरा ;
क्यों पराये हाथ जाने
है बिका संसार मेरा ?

है न करता बात कोई,
क्यों सुने आघात कोई ?
क्षितिज की रेखा - सदृश कुछ
है छिका संसार मेरा ।

था बना ऊँचे शिखर पर
नीड़ अपना सुष्ठु सुन्दर ;
एक झोंके में हवा के
है फिका संसार मेरा ।

हूँ टिकी तरु के सहारे,
गिन रही नभ के सितारे ;
एक पल तक मारने को
है झिका संसार मेरा ।

प्राण से आह बनी,
प्राण बने आहों से;
शक्ति से बाहु बनी,
शक्ति बनी बाहों से।

मञ्जु कलियो, न कहो -
'गा न अलि, दूर रहो'
रूप से वाह बनी'
रूप बना वाहों से।

दीप पर जल न शलभ!
वासना स्नेह अलभ;
चित्त से चाह बनी,
चित्त बना चाहों से।

ग्रीष्म की तीव्र तृषा,
स्वाति-प्रिय, कर न मृषा;
सिन्धु से दाह बनी,
सिन्धु बना दाहों से।

छोड़ मँझधार तरी,
द्वन्द्व से आज भरी;
लहर से थाह बनी,
लहर बनी थाहों से।

बीन पर रीझ हरिन!
तीर की पीर न गिन;
तार से आह बनी,
तार बने आहों से।

तप्त थल सिक्त हुए,
मेघ, तुम रिक्त हुए;
भिक्षु से साह बने,
भिक्षु बने साहों से।

भाग्य, दो भाग हुआ,
दूर अनुराग हुआ,
भेद से डाह बनी,
भेद बना डाहों से।

शंख, ध्वनि घोर लगा,
क्रान्ति को और जगा;
नाद से नाह बने,
नाद बना नाहों से।

भ्रातृ - सद्भाव भरत!
देखना, हो न विगत;
छत्र से छाह बनी,
छत्र बना छाहों से।

चेत, चिन्ताग्नि - चिता!
मृत्यु को आज जिता;
यज्ञ से स्वाह बनी,
यज्ञ बना स्वाहों से।

पान्थ, पग को न डिगा,
अश्रु से मग न भिगा;
पैर से राह बनी,
पैर बने राहों से।

रे पवन, मत शीत चल !
मैं मना करती नहीं -
मस्त गाता गीत चल !
लोक से भयभीत चल !

एक है तन पर वसन,
ले बना तू ही कफन;
हार मेरी लाख में
और तेरी जीत चल !

मत विगत सन्देश दे,
बनने तपस्वी - वेश दे;
आज मेरी प्रगति के
मत एक पग विपरीत चल !

रुक, चलूंगी साथ में,
है नहीं कुछ हाथ में;
भेंट करने के लिये
सुमन लेता मीत, चल !

कौन प्राची में जली ?
आयी अभी होली नहीं ;
गेह अपना फूँक ले,
ऐसी उषा भोली नहीं ।

लाल - पीली पड़ गयी,
रवि - वंश से है लड़ गयी ;
जग, सुहागिल पूछता ?
क्या दीखती रोली नहीं ?

शोक - संकुल आम्र है,
प्रत्येक पल्लव ताम्र है ;
हुई ऋतु - रानी सती ?
तू कोकिला, बोली नहीं !

लपट उठती आरही,
है स्वर्ण - भस्म उड़ा रही ;
माँग लेती दान कुछ,
मेरे निकट झोली नहीं ।

चलो प्रवासिनि, हुआ सबेरा;
कोसों दूर अँधेरा।

बन्धन छुड़ा बन्दिनी अलिनी
उड़ी लगाने फेरा;
लोग लगे जग के धन्धों में,
यहाँ काम क्या तेरा?

किस ने प्रात पर्ण-कुटिया से
पूछा परिचय मेरा?
दीन, हीन, दयनीय दशा पर
वृद्ध-नयन से हेरा!

अधिक नहीं अच्छा, एक स्थल
डाले रहना डेरा;
आज समझ पायी जग क्या है?
चिड़िया-रैन बसेरा'।

अष्टम सर्ग

बाल्मीकि - शिष्य - वृन्द
शीतल , सुगन्ध , मन्द
सेवते समीर थे ,
पुण्यतटी - तीर थे ।

ब्रह्म थे खोज रहे ,
सद् विचार में बहे ;
ब्रह्म तो मिला नहीं ,
स्थान से हिला नहीं ।

ब्रह्म - शक्ति मिल गयी,
भव्य भक्ति मिल गयी;
देख रूप - माधुरी,
सर्व ब्रह्म - चातुरी -

स्वप्न - सी विला गयी,
ज्ञान - जड़ हिला गयी;
सर्व सोचने लगे,
समालोचने लगे -

'चन्द्रिका - कला नयी
क्या हुई धराश्रयी?
विद्युत् कि कौंध रही?
दृष्टि चक - चौंध रही।

बुद्धि ठहरती नहीं,
इन्दिरा न हो कहीं?
शारदा, शची न हो?
किमुत उर्वशी न हो?

क्वचित् मेनका न हो ?
किम्वा रम्भा न हो ?
इन्द्र की कुचाल से,
स्व - भृकुटी विशाल से -

वनस्थली - वास्तव्य,
लोकतः सु - प्रास्तव्य,
तपोरत - तपश्चरण
आयी करने हरण ?

किन्तु हमें अर्थ क्या ?
वाद करें व्यर्थ क्या ?
अपना विचार और,
सभी हैं मातृ - ठौर।

लोष्ठ - सदृश अन्य - श्री,
मातृ - तुल्य पर - स्त्री ;
ब्रह्म - व्रती मानते,
शास्त्र हैं बखानते'।

हृदय स्वच्छतम रहा,
जा मुनीश से कहा -
'एक वनदेवी नव,
प्रकम्पित सब अवयव।

मज्जन - निमित्त गयी,
रख कहीं चित्त गयी;
काल की कृपा हुई,
या कि जग - त्रपा हुई,

कुछ लीला रच गयी,
डूबी, पर बच गयी;
अङ्ग शीत में गले,
शिंशुपावली - तले -

सुन्दर अम्भोज - सी,
किसे रही खोज - सी ?
बिम्बाधर विस्फुरित
छेड़ गद्य गीत मित -

रह जाते स्तब्ध जब,
तकती लता को तब;
योगी जन - ध्यान - सी,
बैठी निष्प्राण - सी,

मौन सोचती कभी,
अश्रु मोचती कभी,
विधि के विडम्बन पर
कभी मुसकाती डर -

मुक्ता लजाती अति,
घृणा पुरुषों के प्रति;
भूपति - दुलारी - सी,
थकी, झकमारी - सी,

नीदी, ऊँघती - सी,
प्रसून सूँघती - सी;
तितली - सी भूल में
पर - दुकूल शूल में -

फांसे , तड़फड़ाती ,
और आह न आती ;
किन्नरि कि माया छल ?
गुरुदेव , देखें चल ' !

शिष्यगण - वाणी सुन ,
अतारित प्राणी सुन ,
योगमयी डगर में ,
गुरु के उर - कगर में -

क्रौञ्ची - करुणा जगी ,
जाते न देर लगी ;
स्वस्ति सम्प्रदान कर ,
कहा सावधान कर -

' सुपरिचिता - सी अहो !
कौन हो देवि , कहो ?
कब से अकेली तुम ?
किस की ढकेली तुम ?

तप - क्षीण - काया - सी ’
शुचि ब्रह्म - छाया - सी ;
निराश्रित पड़ी यहाँ ,
न समुचित पड़ी यहाँ ।

अनल - सा कौन निठुर ?
छुड़ा कर अन्तःपुर ,
वन में बिसार गया ,
रथ से उतार गया ?

मनुजता न छू गयी ,
ठगी कुल - वधू गयी ;
ऐसे कटु पुरुष को ,
ओछे लघु पुरुष को -

दण्डन विचारूँ क्या ?
खण्डन विचारूँ क्या ?
वर्णन बेटी , करो ,
लेते न नाम डरो ।

वरुण हों, त्रिदेव हों,
कि इन्द्र स्वयमेव हों ?
जान में, अजान में,
अबला - अपमान में -

ऐसी फटकार दूँ,
स्वर्ग से उतार दूँ'।
सीता मुनि - केतु की
लख कृपा अहेतु की -

बोलीं दृक् - कंज भर -
'चाहती हूँ यतिवर !
परिचय सुनाऊँ मैं,
भेद न दुराऊँ मैं।

परन्तु प्रत्येक पर,
साधु पर विशेष कर,
करती प्रतीति नहीं,
आज क्या भीति नहीं ?

पहले की विश्रब्धि
लायी दुःखद अब्धि ;
करें द्रव गात्र नहीं,
मैं दया - पात्र नहीं ।

इस योग्य होती तो,
सुख - भोग्य होती तो ;
धावक खलता न खलु,
दुर्मुख दलता न खलु ।

अब न कुल - वधू कहो,
त्यक्ता पर 'थू' कहो ;
पातक - पङ्किनी हूँ,
स्वकुल - कलङ्किनी हूँ' ।

प्रकम्पे मुनि स्थविर,
कहा कर अन्तः स्थिर ;
'निमिकुल - नन्दिनी क्या ?
रविकुल - वन्दिनी क्या ?

दुष्ट दुष्टता नहीं,
तजता अदण्ड कहीं;
एक है महाश्चर्य,
हो सूर्य - वंश - वर्य -

लोकत्रय - विकण्टक,
उखाड़ कर समूलक,
खल के विकत्थन से,
सारोप पत्तन से -

त्यागा आवेश में,
भिक्षुक - प्रदेश में;
मन्यु भरताग्रज पर
है मुझे यथावसर।

किन्तु कुछ रहस्य है,
त्याग अप्रशस्य है;
जिन के हरि ओम् - से
नाम के विलोम से -

हुआ मम समुद्धार,
जान रहा संसार;
चरण-रज स्पर्श कर
गयी पाषाणी तर।

शवरी, निषाद, गीध
पा गये शरण-सीध;
उन की पत्नी सती
पति स्थित, दोषवती।

निष्पतिका नारियाँ,
भारत - सुकुमारियाँ,
जाने क्या असत् में?
भोगें भविष्यत् में?

रे राम-राज्य, थके,
बोल भी न तुम सके?
हाय रे समाज, तू
सत्य भी न सका छू'?

सच ही ऋषि - भाष्य है ,
दृश्य अनभिलाष्य है ;
है किंवदन्ती क्या ?
एक दमयन्ती क्या ?

कितनी सुकुमारियाँ ,
अर्ध वस्त्र में स्त्रियाँ ,
नल - समान अति निठुर ,
स्वार्थ - अन्धता - विधुर -

हैं पञ्चाम्बुजों - से
तजी गयी भुजों से ;
वाल्मीकि - सदृश अहो !
कहाँ महात्मा कहो ?

अशरण को शरण दे ,
जीवन का वरण दे ;
ऐसे महात्मा को ,
विश्व - वन्द्यात्मा को -

देश में स्थान कहाँ ?
इस ओर ध्यान कहाँ ?
जहाँ जातीय सन्त
देवालय में हन्त !

बनें वलिदान - अजा,
वहाँ देश की ध्वजा
उच्च फहरेगी क्यों ?
मुक्त थहरेगी क्यों ?

एक सुयुग था कि जब,
साधु, ऋषियों को सब
सादर झुकाते शिर,
चरण में जाते गिर।

उन का बताया पथ,
करते थे सदा अथ;
वाक्य ब्रह्म - वाक्य था,
टालना अनाक्य था।

राज - तन्त्र , जन - तन्त्र
लेते थे सन्मन्त्र ;
सन्त की प्रतीति पर
जाते थे सौंप घर ।

साधु की असाधु भी
कलियुग की - सी चुभी -
चुटकी न लेते थे ,
चुटकियाँ देते थे ।

त्याग , सदाचार से ,
पुण्य के प्रसार से ,
सजे साधु - साज थे ,
ढके लोक - लाज थे ।

साधु न सामान्य थे ,
वस्तुतः वदान्य थे ;
भारत के प्राण थे ,
दीनों के त्राण थे ।

ब्रह्म - वित्, स्वधर्म - रत
थे सदा सुकर्म - व्रत;
ब्रह्म - ज्ञान ध्येय था,
विमल चरित गेय था।

ऐक्य - भावना भरे,
दुःखों से थे परे;
पूज्य थे देव - तुल्य,
था विवेक - बाहुल्य।

सुमार्ग खोते न थे,
धन को रोते न थे,
संग्रह था लोक - हित,
कहाते इन्द्रियजित।

तपोबल अमोघ था,
खोता अघ - ओघ था;
संप्रदाय - हठ न था,
शून्य देव - मठ न था।

विद्या का व्यसन था,
नाट्य, संप्रहसन था;
चित्रपट-सा न नग्न
नृत्य था लाज-भग्न।

ईर्ष्या न दम्भ, द्वेष,
साधना थी अशेष;
कन्द, मूल, फल-भोज
सुलभ था बिना खोज।

कुशाग्र शेमुषी थी,
जाति ही विदुषी थी;
करामलक तन्त्र थे,
कण्ठ वेद-मन्त्र थे।

करने परोपकार,
रहते विमुक्त द्वार;
शरणार्थियों के हित
सेवा थी समर्पित।

कर दुःख का विशोध,
बँधाते थे प्रबोध;
वाल्मीकि का सुकृत्य
करता सम्मुख नृत्य।

भूल सकता न लोक,
हर दिया सती - शोक;
'हो तुम वीराङ्गना,
फिर हो क्यों उन्मना?

उठो, दुख दूर करो,
प्रकट सुत शूर करो;
आश्रम पधारो चल,
ढारो मत वाष्प - जल।

शोक - सरि में न बहो,
भेज दूँ अवध, कहो?
या कि कहो, राम को
लूँ बुला स्व - धाम को'?

सीता ने धैर्य ले,
स्व - जानु का स्थैर्य ले,
किया उठ कर प्रणाम,
जान वाल्मीकि - नाम ।

'कोटि धन्यवाद है,
मुनि - कृपा - प्रसाद है,
शीस मैं चढ़ा रही;
बात ठीक ही कही -

किन्तु कौन मुख लिये ?
विना आह्वान किये,
लौट अवध को चलूँ;
क्या निरादृता पलूँ ?

सदा अपमान - परक
स्वर्ग है घोर नरक;
आप आत्म - शरण दें,
गमन का न वरण दें ।

सुखी अवधेश रहें,
अपने प्रदेश रहें;
विधि पर खो रोष लें,
मुनि, उन्हें न दोष दें।

वे किसे न इष्ट हैं?
ग्रह मुझे अरिष्ट हैं;
प्रेर आदि से रहे,
घेर आदि से रहे।

बाल्य में विवाह कर,
पिता हुए उऋण, पर-
मैं नहीं हुई उऋण,
टालने दिया न तृण।

कुछ फले न मम चरण,
श्वसुर का हुआ मरण;
परिचरण न कर मिला,
क्या शुभावसर मिला?

जन्म अब कृतार्थ है,
करस्थ परमार्थ है;
एक पन्थ काज दो,
हुई उऋण आज, लो'।

आश्रम - समीप गयीं,
दी धूप, दीप गयीं;
सूँघ यज्ञ का धुआँ,
फुल्ल था रुआँ रुआँ।

कोमल कन्दलिनियाँ
सजा रहीं अलिनियाँ,
धूमिल लतायें दल
रूप धरे थे नवल।

यजनाजिर था सजा,
फहरा स्वधर्म - ध्वजा,
याजक थे यज्ञ - रत,
दर्शक थे क्या न नत?

विवत्सला धेनुयें,
हिला न तनु के रुयें,
दुहा रही दुग्ध थीं,
मन्त्र - गान - मुग्ध थीं।

'हैं दिलीप - कुल - वधू'
रँभा उठीं धन - प्रसू;
यह महान् देश है,
कृषि - प्रधान देश है।

धेनु एक रत्न है,
स्वर्ग का प्रयत्न है;
विश्व भर स्वतन्त्र है,
गौ मा परतन्त्र है।

क्यों न आज खेद हो?
न्याय में विभेद हो;
सब समान जीव हैं,
क्षम्य पशु अतीव हैं।

धार्य मृतक - चर्म है,
धेनु - वध अधर्म है;
देह दूध से पले,
भूत, व्याधि, रुज टले।

विना तरणी अपार
हो वैतरणी पार;
आज धेनु - रक्षको!
धेनु - भक्त बन सको -

तो समीप से बनो,
नृप दिलीप - से बनो;
सुदक्षिणा बनें सब,
गोमय से सनें सब।

आर्ष — दारिकाचरण,
एक है उदाहरण;
फाग - खेल खेलती,
मूत्र, मल हथेलती।

कुछ लिये गड़ासियाँ,
काट रही कुट्टियाँ;
कुछ बिलो रही दही,
कुछ निकालती मही।

मुनि ने सुझाव दिया,
खुलने न भाव दिया-
'तिनका न सती छुयें,
लें न अङ्ग में लुयें।

अवसर अभिलेख लें,
बाल वृक्ष देख लें;
अभ्यागत — सत्कार
मानें न कभी भार'।

आत्रेयी आदिष्ट,
लिये वस्तु स्वादिष्ट,
बोल उठीं - 'आइए,
न संकोच लाइए।

विपूर्व ही विहान से,
निवृत्त नित्य ध्यान से,
प्रफुल्ल केलि-गान से,
सखी लिये विधान से-

प्रसून-पुञ्ज पेखिये,
लता ललाम लेखिये;
सुदीर्घ दृश्य देखिये,
वनस्थली विशेखिये'।

नवम सर्ग

मान्य माता मैथिली,
मुनि - कन्यकाओं से हिली,
चाव से वन में बसी,
सुख सम्पदा से थीं लसी।

दूर कुछ पीड़ा हुई,
उर से विगत ब्रीड़ा हुई;
साधु - संगति मिल गयी,
कलिका हृदय की खिल गयी।

राम - गुण - गीतावली,
गाती पतिव्रत में ढली;
थी भरी सद्‌ भावना,
मन में न थी कुछ कामना।

दुख भुलाये थीं सकल,
सुख - सिंधु में बहती विमल;
पास थीं न अनीतियाँ,
प्रिय थीं सनातन - रीतियाँ।

भ्रातृवत् संसार था,
पति - प्रेम ही श्रृङ्गार था;
पालती पूर्वज - प्रथा,
रुचती न पर - निन्दा - कथा।

गृह - कलह प्रिय था नहीं,
कर - कमल निष्क्रिय था नहीं;
फूँकती न निरर्थ धन,
रखती स्व-वश में थीं स्व-मन।

कुछ दया की बान थी,
अब - सी न कोरी शान थी;
दान दे रटती न थीं,
उपकार से हटती न थीं।

धर्म में रहतीं लगी,
धृति थी सदा उन की सगी;
आ न पाती थी उषा,
उठ बैठतीं वीरस्नुषा।

शोक में बहना पड़ा,
पर - देश में रहना पड़ा;
धर्म - व्रत छोड़ा नहीं,
मुख मृत्यु से मोड़ा नहीं।

जाति और स्वदेश का,
निज वर्ण, आश्रम, वेश का;
नित्य उन को ध्यान था,
क्षत्राणियों का ज्ञान था।

देवियाँ बलशालिनी,
कैसे न हों वनमालिनी ?
वीर वाहन केसरी,
तुम धन्य हो मातेश्वरी !

महल तो उपहास है,
शोभित सदा वनवास है;
लोक का कल्याण है,
प्रत्यक्ष सिद्ध प्रमाण है-

धाक थी वन में जमी,
थी जानकी को क्या कमी ?
थीं अनेक सहेलियाँ,
कहती पवित्र पहेलियाँ।

मन लुभाती क्यारियाँ,
क्या थीं सुहाती क्यारियाँ ?
नवल विपिनोद्गार था,
प्रत्येक पग सत्कार था।

मञ्जरी का पुट दिये,
मधु - पर्क की सुषमा लिये,
सती - स्वागत के लिये,
संसार - अभिमत के लिये -

मञ्जुता, ममता - मयी
तुलसी लसी तुल - सी गयी ;
कुछ झिझक - सी खुल गयी,
जातीयता को ढुल गयी।

ह्रास चम्पा का सकल,
चम्पत बना, ठहरा न पल ;
'आप मेरे वर्ण की,
अलि - जाति कच्ची कर्ण की।

क्या बुलाती पास हूँ ?
कुछ हाँ अवश्य उदास हूँ ;
निरघ हूँ त्यागी गयी,
बन पाप की भागी गयी।

एक से दो हो गयी,
चिन्ता चिरन्तन खो गयी;
दोष अपना घट गया,
सम्पूर्ण जीवन कट गया'।

कुश, लवङ्गों की लता,
देतीं भविष्यत् का पता-
'हो हमारा नाम भी,
सम्भव, सुखद मा को कभी'?

चरण काशीफल परस,
कहता-'दया जाये बरस;
लोग काशी-वास का
फल लें यहाँ प्रण दास का'।

लुढ़कता था ढोल-सा
कुम्हड़ कसौटी पर कसा;
'इष्ट काशी-फल किसे?
श्री-भक्ति दुर्लभ हो जिसे।

हड़ नहीं सकता विपिन,
सेवा करूँगा रात दिन;
मृदुल बतियों से सदा
बतियाँ करें, मन हो यदा।

रिपु उठाये तर्जनी,
माँ को पड़ेगी वर्जनी;
मृत्यु को तकती नहीं,
आक्षेप सह सकती नहीं'।

लौकियाँ लटकी द्विगुण,
लौकिक विचारों में निपुण-
'साधना पूरित हुई,
हम हैं निरी न छुई-मुई।

है रखा क्या रुण्ड में?
खेलें हमारे झुण्ड में;
राम-मुद्रा उर लगी,
हम हैं यहाँ सब से सगी।

सर्व ऋतु फल - दान दें,
सूखें, अमित जल - दान दें;
क्षीण जन चाहें मढ़ें,
निर्भीक रामायण पढ़ें'।

शीर्ष - मुकुटी की छटा,
अपना दिखाती थी पटा -
'काम क्या भय का वहाँ?
बन - भट डटा हूँ मैं जहाँ'।

ताल ठोंके थे अमरु
हिंताल, ताल, तमाल तरु;
'राम हैं ढीलें दिये,
लोकापवादी के लिये।

जीभ लेता खींच मैं,
अति नीच को हूँ नीच मैं;
वीरता सोयी कहीं?
मुझ से बड़ा कोई नहीं'।

जम्बु श्रद्धा में जमा,
बल में रहा था कब समा ?
'जाम्बवान् समक्ष हों,
कितने समर में दक्ष हों ?

फल उन्हें भी दूँ चखा,
अनुभव रहे कोने रखा ;
मल विशाल भुजावली,
प्रहरी बना है शाल्मली'।

'शोक अपना खोइये,
निश्चिन्त निशि भर सोइये ;
शोक कहते हैं किसे ?
न अशोक क्या बीसो विसे ?

वह निशाचर - लोक था,
मैं भी अशोक सशोक था ;
यहाँ पूर्ण स्वतन्त्र हूँ,
सुनता सदा मुनि - मन्त्र हूँ'।

'व्यर्थ बैठी मर्कटी'
प्राकृतिक भूमी पर्कटी;
'फल न सेवा के लिये,
छाया रहूँगी मैं किये'।

आम्र के पीछे रुके,
फूले फले तरुवर झुके;
'कन्द, मूल, फलादि की
है वाटिका किस बल टिकी?

खाइये मन हो जभी,
खाये चुकेंगे क्या कभी?
हम बने उपकार को,
प्रिय हैं सदा संसार को'।

वेत्र — लतावलम्बिनी,
तटिनी हँसी द्रुतगामिनी -
'ग्रीष्म में लें शीत जल,
है गा रहा मृदु गीत जल।

प्रात सायं घट लिये,
मुनि - पत्नियाँ कुछ रट लिये,
सार्थ - माला पोहती,
तट पर क्षणिक हैं सोहती।

मग न रोकें भगवती!
शोभा विलोकें भगवती!
स्नान - वेला दर्श दें,
पद - पद्म करने स्पर्श दें'।

मोद में बेला खिला,
यामिनीगन्धा से मिला;
भुला बेला को न दें,
चुन नियम से पूजार्थ लें'।

बाट जूही जोहती,
तक केतकी ढब टोहती,
सूख हो काँटा गया,
पाटल न था छाँटा गया।

किन्तु स्वागत में अटल,
था ढूँढ़ता ऋतुकन्त - बल;
था विपुल आशा लिये,
अनमोल अभिलाषा लिये।

हार लो उपहार में,
शृङ्गारहार बहार में,
हारता क्यों महक से?
चिड़ियाँ चिढ़ातीं चहक से।

लाल, पीला पड़ गया,
गेंदा गली में गड़ गया;
'व्याज - निन्दा व्यर्थ है,
कुछ और मेरा अर्थ है -

बाल बच्चे कल हुए,
क्रीड़ा - निमित्त विकल हुए;
काम लेंगे गेंद का,
कन्दुक मना पशु - भेद का'।

पशु बढ़े थूथन उठा,
'बस आप रखिये मन उठा ;
मातृ - मन्दिर - द्वार पर
ले काढ़ कोई खाल नर -

पुण्य इस से क्या अधिक ?
हो भी प्रकट मृगया - रसिक !
हम प्रतीक्षा कर रहे,
बलि की समीक्षा कर रहे'।

नील गौ ने दुम लड़ा,
निज टाँग दी अच्छी अड़ा ;
'खाल होती काढ़ना,
होता किसी को ढाढ़ना -

रजक बचता अवध में ?
अपवाद रचता अवध में ?
आप लोगों ने अभी
समझा न मा को स्वल्प भी।

नाम की अवधेश्वरी,
यह हैं परम परमेश्वरी;
जानता उर आर्य का,
इन की दया, औदार्य का -

कुछ न पारावार है,
अन्धा बना संसार है;
पथ न सच्चा सूझता,
है न्याय को कब बूझता'?

बात पर्ण - कुटीर को,
कुछ लगी, हेरा तीर को;
'अवध का मत नाम लें,
मत से हमारे काम लें।

अवध की शोभा यही,
पूछो यहाँ मुझ से सही;
है अवध की क्या दशा?
उर में लगा कैसा कशा?

सौध से मैं चढ़ बनी,
फिर आज अपनी चढ़ बनी;
गढ़ी से सुन्दर गढ़ी,
विधि से मढ़ी सीता - मढ़ी।

दर्शकों का जग - मगा,
है सगा - सा मेला लगा;
क्या प्रजा से न्यून हैं?
हम हाँकती क्या दून हैं?

एक दिन इस द्वार पर,
कुछ है न राजकुमार पर;
नाक रगड़ेंगे बड़े,
कुछ मास हैं ऐसे कड़े।

बीत लेंगे बात में,
क्या ज्ञात यातायात में?
सौख्य के साधन यहाँ,
हैं सभी अपने जन यहाँ'।

त्रिविध मलयज ने कहा–
'है बहुत श्रम श्री ने सहा;
दुःख का मत नाम लें।
थोड़ा बहुत विश्राम लें।

हूँ यहाँ पहरा दिये,
कितने श्रमित ठहरा दिये;
भूल बैठे गेह को,
कर मात विज्ञ विदेह को।

आप निमि के वंश की,
लज्जा रखें निज अंश की;
निमिष भर चिन्तित न हों,
दृग् नीर से सिञ्चित न हों।

नाम निज सार्थक करें,
वैराग्य में सुख को वरें;
सती मन से ही बनें,
सत्यार्थ वैदेही बनें'।

क्या नहीं फड़का फड़िक ?
क्यों झोपड़ी खड़की क्षणिक ?
'मैं खुली हूँ देर से'
सब कह रहे हैं फेर से -

आज श्रेष्ठ मुहूर्त है,
बीती घड़ी वह धूर्त है;
पर्ण - शय्या है सजी,
पर क्या कहे, कुछ है लजी ?

भक्ति - दान अनन्य दें,
कर भाग्य इस का धन्य दें;
भगवती अभ्यस्त हैं,
होती न इस में त्रस्त हैं'।

रंगतें बदली दिशा,
'नीरव रहो' बिगड़ी निशा;
'मैं न दूर, समीप हूँ,
मैं वह जलाती दीप हूँ -

नींद में खलते नहीं,
जिन पर शलभ जलते नहीं;
स्नेह कम होता नहीं,
है निम्न तम होता नहीं'।

चक्रवाकी ने कहा,
कुछ हृदय पीड़ा से दहा;
'विरहिणी को नींद कब?
तम सुखद, प्रियतम पृथग् जब।

धन्य तुझ से यामिनी!
है भिल्ल की वह भामिनी,
एक पिंजड़े में जुड़ा,
विधि - लेख है देती उड़ा'।

जानकी बोलीं - 'चकी!
एकाकिनी तू क्यों झकी?
तू सदा निर्दोषिणी,
कितनी बड़ी सन्तोषिणी।

भात होगा ही कभी,
तेरा बसेगा गेह भी;
धैर्य मैं किस बल धरूँ;
हो अवधि तो गिनती करूँ!

भेद खोलूँ किस तरह?
हो एक दिन, लूँ विरह सह;
जन्म से रोना पड़ा,
भू पर न कब सोना पड़ा?

दोष है यह भाग्य का,
या जन्म से वैराग्य का;
ठीक है, जो कुछ हुआ'!
दृग्-छोर निद्रा ने छुआ।

स्वप्न-सा लाती रहीं,
सो भी कभी जाती रहीं;
भावना सोती न थी,
सुधि स्व-जन की खोती न थी।

जीव सोता है, न सोती भावना;
विश्व का गुरु भार ढोती भावना।

शून्य में आँसू कहाँ सम्भाव्य हैं?
भूमि का अंचल भिगोती भावना।

भूलता मृग चौकड़ी धोखा उठा,
भ्रान्ति के फिर बीज बोती भावना।

पा न कुछ आलोक मानव-लोक में,
दीप तारों के सँजोती भावना।

सृति-विसर्जन में सृजन का काम क्या?
त्याग से है उच्च होती भावना।

दशम सर्ग

भारत तपोवन - देश यह,
सुख से सदा पाया न रह;
आया सताता दैत्य-दल,
आरम्भ से कर द्वेष, छल।

यह क्या किसी का काम है?
औदार्य का परिणाम है;
औदात्त्य में अवसाद है,
यह एक भौतिकवाद है।

इस देश को क्या भीति है ?
प्रभु के चरण में प्रीति है ;
'जय राम-शासन की' कहो,
निर्भय रहो, जिस थल रहो।

रघुवर प्रजा से भीत थे,
गाते उसी का गीत थे ;
थे शत्रु से डरते नहीं,
कब मृत्यु को गिनते कहीं ?

साकेत में मुनि एक दिन,
पहुँचे च्यवन मन ले मलिन ;
सब शून्य सरयू-घाट थे,
संलुप्त कच्छप-राट् थे।

थीं राज-रथ्यायें विमल,
पर थी न पूर्व चहल-पहल ;
थे हाट, आपण खुल रहे,
ग्राहक नहीं थे डुल रहे।

जल - सिक्त राजोद्यान थे,
सब किस दहन से म्लान थे?
थे विमन दौवारिक सभी,
चिन्ता गयी थी क्या अभी?

ऋषि च्यवन कुछ ठिठके प्रथम,
निज हृदय में झिझके प्रथम;
गृह - सचिव बोले - 'आइये,
श्रीराम—दर्शन पाइये'!

दे अर्घ, पाद्यादिक सविधि,
बोले दया के कोष, निधि -
'की कृपा मुनिवर, किस लिये?
कहिये, पधारे जिस लिये।

उस शक्ति से हूँ हीन अब,
मुनि - वचन होगा विफल कब?
इन साधु, सन्तों के लिये,
मैं ने न क्या कौतुक किये'?

ऋषि च्यवन बोले - 'दयामय !
है समय कहने में सभय ;
इस भीति से है द्विगुणतर ,
शठ मधुर - सुत का क्या न डर ?

है प्रबल लवणासुर विकट ,
रावण - सदृश अति वीर भट ;
दङ्गल सभी सातङ्क हैं ,
जङ्गल सभी सातङ्क हैं ।

वध वेग करिये स्व-बल से ,
मुनि जनों को सुख , शान्ति दे ;
हैं शाप दे तापस थके ,
अब शरण प्रभु की हैं तके ' ।

' इस लवण को ' बोले भरत -
' मैं कर सकूँगा चूर्णवत् ;
फिर दैत्य-दल को धरा पर ,
क्या चैन दूँगा निमिष भर ?

है दुष्ट वह किस दिशा में ?
है क्या निकलता निशा में ?
हो जहाँ भी, क्या व्यग्रता ?
मैं करूँगा रण - अग्रता'।

यति च्यवन बोले - 'है बली,
आतंकिता विपिनस्थली;
मुनि - मांस है जाता निगल,
सकता न वर्षा में निकल'।

रिपुदमन बोले - 'भ्रातृ-गण,
कुछ धैर्य लायें एक क्षण;
सब ज्येष्ठ बैठें गेह में,
मैं मिला दूँगा रेह में।

यह राक्षसों का क्या जगत्,
अद्यापि रचता मत असत्?
खल - जाति है क्यों पनपती?
वन - वन भटकती हैं सती।

उन आज मनु की शपथ है,
निज बाण, धनु की शपथ है;
खल - रहित कर दूँगा धरा,
है नाम माधुर, विष भरा'!

कह उठे लक्ष्मण क्रोध में,
सर्वथा भ्रातृ - विरोध में;
'है यह प्रजा का राज्य जब,
रण में पिसे क्यों भूप तब?

रक्षा प्रजा कर लें स्वयम्,
रिपु - सिन्धु को तर ले स्वयम्;
इस प्रजा का कटु भक्ति - फल,
है पा रहा रघुवंश - दल'।

श्रीराम बोले - 'हे लखण!
तुम जानते हो राम - प्रण;
क्यों बह रहे हो रोष में?
क्या शब्द अन्य न कोष में?

है मत तुम्हारा प्रिय नहीं,
क्या भरत - वच सक्रिय नहीं ?
इस द्वार से है निराश्रित,
लौटा न कोई कदाचित् ?

है प्रजा-प्रतिनिधि किस लिये ?
गृह मौन बैठे, इस लिये ?
शत्रुघ्न, दल दो, शत्रु - दल,
हो सफल तुम को वनस्थल'।

सामन्त, सेना संग ले,
शत्रुघ्न पूर्ण उमंग ले;
प्रस्तुत हुए प्रस्थान को,
रिपु-रक्त - सरिता-पान को।

प्याली करों में रह गयी,
श्रुतकीर्ति - दासी कह गयी -
'श्रीमान्, थोड़ी देर को,
अरि की विसार अहेर को -

कुछ कष्ट महलों में करें,
दुख नष्ट महलों में करें';
सुन सेविका का मृदु कथन,
निज अश्व का कर मन मथन—

सोचा '-समर है दूर का,
क्या है भरोसा शूर का?
आये पलट निज गेह को,
या चल बसे ले देह को?

जग में चलो, मिलते चलो,
मत मार्ग से हिलते चलो;
देखो, कहे क्या प्रियतमा?
चञ्चल न मन-मृग ले रमा?

पर, आज कब जल की तृषा?
वीणामयी धिष्णा मृषा;
है शत्रु - शोणित - नद अतल,
खल बल मचाता सर्व पल।

उस ओर श्रवण विलीन हैं,
क्या मीन - लोचन दीन हैं ?
शार्दूल वह, निज ध्येय ले,
परिपक्व प्रण - पाथेय ले -

आगे न धारा के झुके,
उस पार ही जा कर रुके';
धारे कवच भीतर गये,
श्रुतकीर्ति के दृग् भर गये।

हँस युद्ध - गामी ने कहा -
'मंगल - समय यह दुर्वहा,
पथ - विघ्न की कैसी घटा ?
क्यों मलिन है विद्युच्छटा'?

सहधर्मिणी - रसना गुठी,
'क्यों स्मृति अमंगल की उठी ?
शुभ शकुन - सूचक दृक्-कलश,
भर किङ्करी लायी विवश।

सह जल - कलशवाली चले,
द्विगुणी समर - यात्रा फले';
'यह क्या कहा, ऐं, हे प्रिये!
क्या आज हो मदिरा पिये?

क्या जल्पतीं उन्माद में?
पति - संग रिपु - रण - वाद में -
अर्धाङ्गिनी कोई गयी?
यह रीति है कैसी नयी?

शार्दूल - जीवन - सहचरी,
रहती तभी शोभा - भरी -
गम्भीर बैठे माद में,
दौड़े न मृगया - नाद में।

हाँ, स्वयं पर कुछ आ पड़े -
भीतर नहीं, बाहर लड़े';
'पद - सेविका को दो क्षमा,
प्रत्यक्ष लो स्व - कुलोपमा।

त्रिदिवौकसासुर - समर में,
कट्टालिका कस कमर में,
पति - संग मँझली माँ गयीं';
'मैं मानता हूँ, हाँ गयीं।

परिणाम, सुभगे, क्या हुआ?
तन बीच बिच्छू - सा छुआ;
कर इन्द्रियाँ संदग्ध दश,
दशरथ पिताश्री को विवश -

खो प्राण, वर देने पड़े,
मँझले बहुत माँ से लड़े;
है क्रन्दना इस बात की,
अब भी न इति उत्पात की।

मिलते न माँ, बेटे कभी,
क्या बल मिटा मेटे कभी?
युवती जनों को सर्वथा,
स्वातन्त्र्य पाने की प्रथा -

मैं तोड़ देना चाहता,
गृह - वास उचित सराहता';
कहने लगीं सुयशोमुखी -
'स्वामी रहें मेरे सुखी।

सम्मान्य मँझली सास - सी,
एकादशी - उपवास - सी,
श्रुतकीर्ति है रूखी नहीं,
वरदान की भूखी नहीं।

है पाप बिचली को वृथा,
था मन्थरा - ग्रह ने गृथा;
गृह - चक्र में आये सभी,
जेठी बहन ने पर कभी -

साहस तनिक तोड़ा नहीं,
पति - संग था छोड़ा नहीं';
'सरले, विचारो लोक ने,
अपवाद की लघु झोक ने -

उपहार श्री को क्या दिया ?
है दूर सब दिन को किया ';
'यदि पूछते हो मूल से,
हरतीं स्त्रियाँ पति-भूल से '।

' गजगामिनी, दुर्राक्षसी,
खर की खसोटी बहन-सी,
कोई कहीं आ ही मरे,
तो सभ्य मानव क्या करे ' ?

'अपनी कुटी में वास दे,
होने न जग-उपहास दे ';
' पिकवचनि, देखें भाग दे,
क्या पूर्व-पत्नी त्याग दे ' ?

'मानी गयी हैं भूप की,
अर्धाङ्गिनी बहुरूप की ';
मृगनयनि, सोचें, सौत में,
क्या अधिक अन्तर मौत में ?

यह सौत लक्ष्मी रूठ कर,
अधिकार अपनी मूठ कर,
तकती रजक का गृह नहीं;
कुछ स्वार्थ से, निस्पृह नहीं'।

'लक्ष्मी न लाञ्छन-योग्य है,
नर-युक्ति से सम्भोग्य है;
कमला-उपासक अधिकतर,
रहते मदान्ध वसु-प्रहर।

क्या क्षीरशायी अन्यथा,
बन कमल-लोचन सर्वथा?
विष-शेष-शय्या पर विबुध-
सोते पड़े, हँसते विबुध?

जग-साधुता खा ठोकरें,
भरती न रो कर पोखरें';
'कटु कण्टकावलि से शुभे!
हैं क्या न मर्मस्थल चुभे?

यदि श्रीमती होतीं निकट,
ऐसी परिस्थिति के विकट -
तब सोचतीं इक काट क्या ?
जातीं नहीं उस घाट क्या' ?

'करुणाश्रु के ले आज्य को,
इस प्रजा - तान्त्रिक राज्य को -
मैं झोंक देती भाड़ में,
छिपती न वन की आड़ में।

अपवादियों को ठोकती,
अपवाद पल में रोकती;
विक्षेप राजा डालता,
कटु राज - नियम निकालता -

नियमावली ही फूँकती,
फिर राज - सत्ता भूँकती;
जिस शक्ति में सद्धर्म की,
अबला - हृदय के मर्म की -

कुछ भी नहीं है पुछ - गछ ,
बँधती स्वयं अपनी न कछ ;
उस संघ का व्यक्तित्व क्या ?
है लोक में अस्तित्व क्या ?

'वल्लभे, परिणय-तिथि-प्रभृति,
देखा कभी खोते न धृति ;
गम्भीर वारिधि - वीचिका,
तर कर मृगीय मरीचिका -

करने कहाँ तट जा रही ?
इति भी न है इति पा रही' ;
'प्रिय पूर्णिमा के पर्व में,
भर गुरु जनों के गर्व में -

लघु लहर का भी चतुर्दिक्,
रह - रह उफनना प्राकृतिक ;
क्या छोड़ दे कुल की कला ?
पर, उस बराकी की भला -

यह प्रार्थना किस ने सुनी ?
है चातकी - सी मुड़घुनी ';
'आरम्भ है आषाढ़ का,
कुछ है अकाल न बाढ़ का।

जल - सैन्य का टिकना कठिन,
रहता बना दिन में अदिन;
मुग्धे, पकड़ने वाट दें,
हँस - हँस विरह - क्षण काट दें।

आशा पपीही की भला,
कोई अधूरी कर चला ?
किञ्चित् अवधि अनिवार्य है,
यह साधना का कार्य है।

सत् स्वाति - जल से स्नेह है,
क्या स्वाति में सन्देह है ?
मुक्ता - प्रसविनी स्वाति है,
आसक्त हँस - सुजाति है'।

'पर वह अभी फल दूर हैं,
जन्मान्त को ग्रह क्रूर हैं;
कोई कहीं लूटे सुधा,
अपनी बुझाये प्रिय क्षुधा-

चुँगने चकोरी के लिये,
अङ्गार हैं विधि ने दिये;
लघु चक्रवाकों का यहाँ,
रोना कहो, हँसना कहाँ'?

'मतिमति, मुझे सन्देश क्या'?
'अनभिज्ञ हैं हृदयेश क्या?
पावस वियोगी के लिये,
चिरकाल-रोगी के लिये-

प्राकृतिक होता है दुखद,
लगता न थल कोई सुखद;
बहु वन पड़ेंगे पन्थ में,
लें देख चित्रित ग्रन्थ में।

वाल्मीकि - आश्रम कौन है ?
क्यों कौन देवी मौन है ?
कुछ अन्य भी पहचान है,
मेरा सही अनुमान है -

प्राकृतिक कृषि की उपज में,
मुनि की वधूटी उटज में -
हों कूटती लघु धान्य को,
गिनती न हों सामान्य को -

रघुवंशियों का नाम लें,
समझें उचित, विश्राम लें;
बहु तप मिलेंगी साधती,
निज देव को आराधती।

सब को चिढ़ाने के लिये,
आसन डिगाने के लिये -
बोले पपीहा - 'पी - कहाँ' ?
कहना - 'जहाँ देखो वहाँ'।

हाँ, वृत्त कहते रह गयी,
उन्माद में क्या कह गयी ?
भगिनी चतस्री सँग पलीं,
ब्याही गयीं सँग, सँग चलीं।

कुछ काल गत वन-वास में,
सब रह न पायीं पास में;
वह साधु ही व्यवहार था,
किस को कहाँ अधिकार था ?

है घाव इस उपदेश से,
सम्बन्ध रख वर वेश से;
केवल बसीं वन-वंश में,
हम साथ हैं सब अंश में।

आयें चली, घर है खुला,
सब को वहीं या लें बुला';
यह कह व्यथा में बह गयीं,
मृदु कर उठाये रह गयीं।

आगे वृथा है सोचना,
पति - पग लगी दधि - रोचना;
जङ्गल सकल डाले हिला,
कब मथन में माधुर मिला?

एकान्त कुछ संध्यान्त में,
भट भटकते वन - प्रान्त में -
पहुँचे लवण - भिक्षुक विसर,
वन - भिक्षुकी की कुटी पर।

कोई गया सूना नहीं,
क्या फल मिला दूना नहीं?
पर क्या करें ऐसी प्रकृति,
सृजतीं तृणों में स्वर्ण - स्मृति।

लगती रुचिर थी द्वार से,
थी पुरी बंदनवार से;
सर्वत्र गोमय से लिपी,
पुष्पाक्षतों से थी छिपी।

मधु धूम गुग्गुल - गंध का,
दृग् खोलता था अंध का;
मृदु दीप नाना जल रहे,
थे स्वतः माना जल रहे -

देते प्रकाश परार्थ थे,
सुस्नेहमय निस्वार्थ थे;
फिर भी शलभ समझें नहीं,
आ भ्रान्ति में सुलझें नहीं -

क्या दोष है फिर ज्योति का?
फिरना वृथा खद्योति का;
इस मोह - रजनी ने अरे!
किस के नहीं पौरुष हरे?

पद - प्रोक्षिणी से दूर कुछ,
तृण - पुञ्जिका से स्वच्छ पुछ;
मृगचर्म - दल आस्तन बिछा,
सखियाँ रही थीं वृद्धि छा।

वन - कंद , मूल , फलादि की -
थीं रखी टोकरियाँ छिकी ;
कोणस्थ थी मञ्चालिका ,
क्या हों वहीं सञ्चालिका ?

अज्ञात माला - युक्त शुचि ,
था चित्र ऊपर शान्तरुचि ;
अवशेष लगना भोग था ,
उठ दृग् गये , संयोग था ।

'आओ अतिथि' बोलीं सखी -
'वह शुचि प्रसादी है रखी ;
पायें प्रवीर प्रसन्न हो ,
फिर अतिथि - गृह सम्पन्न हो' ।

'है धन्यवाद महामहा'
साञ्जलि धनुर्धर ने कहा ;
'जय लक्ष्मि - नारायण करें ,
जन को अतिथि - शाला वरें' ।

'हाँ हाँ, पधारें अति निकट,
नव पर्ण - शाला है निपट';
'कुछ साथ सज्जन और हैं',
'वह भी यहाँ शिर - मौर हैं।

निर्विघ्न खोयें पथ - व्यथा,
होगी सुनानी कुछ कथा';
'कुछ चरित वनदेवी कहें,
क्या चरण - रज -सेवी कहें'?

'अस्वस्थता - वश मौन हैं,
बल में प्रथम से पौन हैं;
स्व - कुटीर से हिलती नहीं,
पर - पुरुष से मिलती नहीं।

पर आज है पीड़ा अधिक,
कुछ प्राण की सी है वधिक';
'अच्छा, चलो दुर्भाग्य है,
निष्फल कभी वैराग्य है?

यह विपिनदेवी कौन हैं ’ ?
‘ यह पन्थ - सेवी कौन हैं ’ ?
‘ परिचय मिलेगा भगवती ’ !
‘ हम हैं सकल त्यागी सती ।

अपना ठिकाना कुछ नहीं,
सन्ध्या कहीं, प्रातः कहीं ’ ?
सब कुछ गयीं सखियाँ सुना,
पर क्या क्षुधार्त्तों ने चुना ?

‘ हैं अमृत से भी फल मधुर ’
‘ यह वन लवण से है अधुर ;
क्या पथिक, माधुर प्रिय नहीं ’ ?
‘ है लवण भी निष्क्रिय नहीं ।

अन्तर कथन में है सही,
है लवण - माधुर एक ही ’ ;
‘ क्या अवध - राजकुमार हैं ’ ?
‘ यह वचन सत्य, उदार हैं ’ ।

'इस समय वैदेही कहाँ'?
'शासन अनुस्नेही कहाँ'?
'क्या पुनर्वन - निर्वास है'?
'रो तो रहा यह दास है।

क्या है अवध - मानव - दशा?
पीड़ा, बता दे कर्कशा;
मिलते न पुर के होड़ बद,
शोकाश्रुओं के काण्ड नद -

सरयू कभी की सूख कर,
लेती झषों के प्राण हर;
तृण तक तुरङ्ग न तोड़ते,
सारथि जभी हैं जोड़ते -

उद्धम मचा पुर औड़ते,
रथ ले विपिन को दौड़ते;
'हम को यहाँ से काम क्या?
यह था हमारा धाम क्या?

स्वामी सदा टेढ़े चलें,
सेवक बनें मेढ़े चलें-
यह सह्य हो सकता नहीं,
क्या पशु कभी तकता नहीं ?

लाया कहाँ से चाल है ?
सीखी यहाँ से चाल है;
मानव चतुर, तेरी कला-
है घोटती तेरा गला'।

ऐसे कभी हुड़के नहीं,
शिशु तक कभी घुड़के नहीं,
पूछो न सोदर का हृदय,
आँखों तले आया प्रलय।

मुख तक दिखाते हैं नहीं,
क्या सब सिखाते हैं नहीं ?
भाभी महादुख झेलती,
षट् रस अनर्थ उड़ेलती।

कहते - ' प्रिये, कैसी क्षुधा ?
मैं हूँ पिये पीड़ा - सुधा ;
मैं आज इस में मस्त हूँ,
समझे जगत् सन्त्रस्त हूँ ' ।

वैराग्य को श्री माण्डवी,
सौभाग्य को श्री माण्डवी,
वैमत्य से थीं तोलती,
मन - तुला पर आन्दोलती ।

दुःसह्य संकट ने उन्हें,
लघु रजक लम्पट ने उन्हें -
बतला दिया - अनुराग से,
सम्बन्ध क्या है त्याग से ?

' अनुरक्ति एव विरक्ति है,
यह एक अपनी भक्ति है ;
आराध्य को हैं प्रिय युगल,
राधक रहे सन्तत सबल ।

दुर्विषमता में साथ दे,
दुख को वृषभ - सा नाथ दे;
वह ही अहर्निश ग्राह्य है,
विस्फोट उस का वाह्य है।

पर, गुरु जलधि के गर्भ में,
पूर्णा, अमा - सन्दर्भ में,
विक्षुब्धता जगती न क्या?
बड़वाग्नि है लगती न क्या?

अविचल हिमाचल रात में
रहता सदा हिम - पात में;
पा ताप दिन भर का, रुदन -
क्या है निधन से न्यून धन?

संतप्त जगती के लिये -
कब रो न दृग् घन के दिये'?
जब शून्य तक दिन रात में,
दुख, सुख बदलता बात में -

कैसे विरक्तों का हृदय,
कह दूँ जड़ों से भी अदय ?
छोटे, बड़े मँझले सभी,
इस मध्य हैं न असम कभी।

स्वाधीन नन्दिग्राम निज
स्वाधीनता तज सक्षितिज
साकेत से है मिल रहा,
कब जोड़ अनमिल खिल रहा ?

वह एक फिर भी वत्स है,
परतन्त्र पुर वीभत्स है;
हैं सौध खाने दौड़ते,
छाया - बहाने दौड़ते -

'ओ शिल्पकारो, कर बढ़ा,
किस शोक में थे जब गढ़ा ?
अभिशाप हम देते भरो,
जब तक जिओ, भूखों मरो'।

रघुराज को रनिवास में,
क्या प्राप्त शोक - विकास में ?
शुक पूछता - 'सीता कहाँ' ?
'रावण अभी जीता कहाँ' ?

ताना लगाती सारिका,
श्री मैथिली - दृग् - तारिका ;
ले प्रभु दिखाते चित्र हैं,
खग किन्तु ऐसे मित्र हैं -

पहचानते हैं - 'यह कहाँ ?
कर से खिलाती, वह कहाँ ?
यह जानकी हैं आप की,
सुनती न बात विलाप की'।

'क्या आज मैं हूँ रो रहा ?
हूँ जग रहा या सो रहा ?
कृत्रिम पखेरू दो टँगे,
नर चोंच में चूँगा चँगे -

देता स्व - प्रमदा के लिये,
कर्त्तव्य - पथ पालन किये;
यह एक राजा राम हैं,
मणि - जटित अगणित धाम हैं -

समभागिनी को एक पग -
थल दे न पाये, वाह जग!
प्रिय तुलसिके, मुरझा गयीं,
क्या ताप तुम भी खा गयीं?

यह भी मिली छुट्टी नयी,
पूजा, पुजारिन - सँग गयी;
रजके, धुले पट चाँद - से,
हैं कँद गये किस काँद से?

ले जा रही किस घाट को'?
'स्वामिनि गयीं जिस वाट को;
क्या नित्य बदलेंगी वहाँ?
पहचान है किस को यहाँ'?

है अंग अंगी जानता,
है कौन संगी जानता?
विक्षिप्त - सी दासी, सखी,
पाकस्थली मनसी रखी।

न पिपीलिका तक झाँकती,
है भाव वह भी आँकती -
'आदर विना लेना सुधा,
मानी, मनस्वी को मुधा।

हो ग्रास प्राणी त्रास का,
क्या स्नान कार्तिक - मास का'?
सुन राज - मातायें विकल,
हैं भूलती दृग् - मूल - बल।

'ओ, ज्योति धुँधली, क्यों रुकी?
जा; घोर है आँधी झुकी;
शशि - रवि उछलते डूबते,
कटु नीलिमा में ऊबते।

वह दीप वर हैं निर्भये !
अपना ठिकाना कर गये ;
क्या देखना कुछ और है ?
पर, झोपड़ी का ठौर है।

तम - तोम उस पर टूट कर,
नव निधि न चल दे लूट कर ;
लेना परख निज व्याज थिर,
मिलता रहेगा मूल फिर।

अति मूल से प्रिय व्याज है,
करता जगत् कल आज है' ;
'धीरज धरें ज्योतिष्मती !
कुछ है सहायक भगवती।

कृपया बढ़ाना कम करें,
इतना करें - बल सम करें ;
पर्याप्त मुझ में स्नेह है,
अपना सुरक्षित गेह है।

पर कलपती हूँ, पथ कहाँ?
प्रियतम-मनोरथ-रथ कहाँ'?
यह उत्तमात्मा-नृत्त है,
क्या लघुतमा का वृत्त है?

लघुतम यहाँ कैसे कहे?
सुन लें कभी जीवित रहे';
संसृति में सब कह गये,
वक्ता स्वयं ही बह गये।

श्रोता जनों का मोल क्या?
मुख से निकलता बोल क्या?
वन-देवियाँ हिल-सी उठीं,
तम-गर्भ में मिल-सी उठीं।

चुपचाप निज पीड़ा लिये,
अज्ञात का बीड़ा लिये-
माँ मैथिली टिक-सी गयीं,
पर-हस्त में बिक-सी गयीं।

घन के बहाने झोपड़ी -
सँग आँसुओं के रो पड़ी -
'जाना नहीं मुख मोड़ कर,
इस जर्जरा को छोड़ कर'।

ननु नियमन प्रश्न कठिन है,
क्रन्दन में हसन निहित है;
निशिदिन गिनना न अनर्गल,
गुरु गणित प्रकृत्यभिहित है;
विधि से कर कालक्षेपण,
यह विधि का खेल विहित है;
अपि केवल बाल - प्रलम्बन,
सम्मज्जित के प्रति हित है।

एकादश सर्ग

सुखद श्रावण - निशीथ थी अर्ध,
सपरिकर चन्द्रदेव निस्पर्ध
ढके घन का अपवाद - दुकूल,
बदलते थे करवट निर्मूल।

बदलियाँ हलका - सा छिड़काव
लगा जाती थीं भर कर चाव;
वसुमती ले सोंधी उच्छ्वास,
प्रसविनी को देती उल्लास।

यौवनोन्मत्त वाहिनी, अभृश
न ले विश्राम वाहिनी - सदृश,
शीघ्र पहुँचाने शुभ सन्देश,
हो रहीं उतावली सावेश।

पहन वन - राजि हरित परिधान,
खोजती थी शुचि स्वर्ण - विहान;
झींगुरों की झिल्ली झन्कार -
'थमो कुछ' कहती थी सन्कार -

'आज है मुद, मङ्गल की निशा,
मनाती क्या न जागरण दिशा?
किसी सौभाग्यवती का अङ्क
विकासोन्मुख है मिटा कलङ्क।

जगा कर जुगनू जग - मग दीप,
झाँक आते हैं कुटी - समीप;
पोह मधु उपहारों की लड़ी,
धात्रियाँ गिनती हैं शुभ घड़ी।

अरे, देखो, वह युग्म प्रकाश -
हुआ विद्युत् - सा हो न निराश ';
पपीहा बोल उठा - ' पी - कहाँ ' ?
मानता मोरों का जी कहाँ ?

नाचने लगे उठा कर पङ्ख,
असंख्यक बजे भेक - दल - शङ्ख -
' मिले वनदेवी को दो रत्न '
मुनीश्वर भूले रक्षा - यत्न।

कहा - ' लख हंस - वंश के बाल,
चकित हैं परमहंस - दृग् - जाल;
त्याग अद्वैत, द्वैत का पक्ष -
ले रहा मेरा हृदय समक्ष '।

कहा मुनि - वधुओं ने - ' यदि आज -
उपस्थित होता अवध - समाज;
समाता फूला - फूला नहीं,
न फिरता झूला - झूला कहीं ?

निरखते राम अपूर्व कुमार,
समझते हलका भावी भार;
चूम पौत्रों का आनन मृदुल,
हुलसता कौशल्या - उर अतुल।

पूजने कुल - देवों को ढोक,
सुमित्रा चारु पूरती चौक;
न क्या कैकेयी भरती अङ्क?
मिटाती गत वन - वास - कलङ्क।

कहाती प्रियम्वदा क्या बाँझ?
हँसाती सब को प्रातः साँझ -
'अवध - नभ में ध्रुव तारक युगल,
सभी को हैं प्रियातिप्रिय विमल।

न्याय विधि का है कितना श्रेष्ठ -
जानकी का लघु, मेरा ज्येष्ठ';
सखी का सुन जन - प्रिय मधु घोष,
लुटातीं बहनें कञ्चन - कोष।

राम - भगिनी शान्ता आती न ?
भतीजों पर वलि - वलि जाती न ?
जनकपुर छकड़े छोछक भरे,
भेजता यौतुक से भी परे'।

कहा मुनि ने - 'क्या अन्य प्रसूति ?
तपोवन की दो लुटा विभूति;
समझ लो अपने हैं दौहित्र,
जनक हैं मेरे परिचित मित्र।

बचा उन से कुछ ब्रह्म - ज्ञान,
अन्य योगी जन पाये जान;
एक पथ के हम दोनों पथिक,
कथन करते परमार्थी कथिक'।

सुधा के सम सुन रचना मधुर,
बना शृङ्गार वन - वधू चतुर -
मनाने सुत - जन्मोत्सव लगीं,
देव - गण की दुन्दुभियाँ जगीं।

समझ शत्रुघ्न रहस्य न सके,
नाम रघु-कुल का सुन बहु छके;
सोचने लगे-'स्वप्न तो नहीं-
देखता हूँ मैं वन में कहीं?

यही क्या है महर्षि का धाम?
साधती भाभी तप निष्काम?
नहीं, वह होती क्या मिलती न?
पास से पल भर भी हिलती न।

समझती थीं सुत से बढ़ मुझे,
भाव लक्ष्मण के होंगे मुझे;
सगा हूँ इस से लिखता क्या न?
गेहुँओं में घुन पिसता क्या न?

हुई अवधेश्वर से क्यों चूक?
बनूंगा अब न कूप-मण्डूक;
मिलाऊँगा दम्पति हठ ठान,
करूँगा तदनन्तर जल-पान।

अरे, यह क्या बाँधा शिर मौर ?
प्रथम तो करना है कुछ और ;
शमन हो लवणासुर की प्यास,
करूँ फिर सीता - शोध - प्रयास ।

किसी के जन्मे हों सुत यहाँ,
मिलेगा ऐसा मङ्गल कहाँ ?
शकुन तो अच्छे हैं इस बार,
खेल है नहीं लवण - संहार ' ।

चले रिपुसूदन ब्राह्म मुहूर्त्त,
जहाँ था वर्वर मधु - सुत धूर्त्त ;
बढ़े पश्चिम की ओर ससैन्य,
प्रजा ने दिखलाया अति दैन्य ।

' वीरवर हे लक्ष्मण के अनुज !
लड़ें हो सावधान, वह दनुज
शूल का करता घोर प्रहार,
बसा है यमुना के उस पार ।

सिंह - सा झपटा दैत्य दहाड़,
चलाया उपरि उखाड़ पहाड़;
वाण से तिल - तिल डाला काट,
कुपित हो लाया तरु उत्पाट।

शीर्ष पर फेंका छिपे, अरिघ्न
हुए मूर्छित, सह सके न विघ्न;
मचा देवों में हाहाकार,
सैन्य कर देता स्वाहाकार -

वीर की सुप्त मूर्च्छना जगी,
शूल पर दृष्टि दुष्ट की लगी;
विष्णु का मारा ले कर वाण,
हो गया पापी का कल्याण।

शूरसेनों का देश स्वतन्त्र,
चरण में लाया भेंट समन्त्र;
हाथ में ली अपने मधुपुरी,
बसी ऐसी जैसी रघुपुरी।

हुई कितनों की पूरी साध,
तपोवन बने सकल निर्बाध;
प्रथम से ही थी विपिनस्थली,
फलों से स्वतन्त्रता के फली।

शुभ ग्रह, शुभ दिन, शुभ नक्षत्र,
बधाई बजती थी सर्वत्र;
छुआ कुश - शिखा, मूल से नाल,
अतः कहलाये कुश, लव बाल।

लगे वट, पौधों - से पौढ़ने,
धूल में जटा - सटा औढ़ने;
बुलाने चन्द्र ठानते रार,
हृदय मा का द्रवता समुदार।

लोरियाँ दे पोटती - 'महान्
रुष्ट हैं चन्द्रदेव भगवान्';
सहेली वासन्ती सव्यङ्ग,
देख हँसती कुश, लव के ढङ्ग।

'न जाने उपजे कैसी घड़ी
भरी अङ्गों में चुलबुल बड़ी
कूदा सहसा विमातृ-उत्सङ्ग
मचाने आश्रम में हुड़दङ्ग

पकड़ते यति की श्वेत श्मश्रु
मचल उठते हैं उनका अश्रु
ध्यान बटते ही किञ्चिन्मात्र
पलट देते हैं पूजा-पात्र

सिंहिका उपालम्भ ले नित्य
सुनाती है अपना साहित्य
'लाड़लों को लें देवी हटक
सिंह-शिशुओं से जाते अटक

रुकेगी कब तक बीच बिचाव
कठिन होता है जाति-स्वभाव
न देगा शान्ति-पाठ फिर काम
बन्धुना रोती है शिर थाम'

लोमड़ी कहती - 'सच है सर्व,
रूप, बल का है इन को गर्व;
किलकते हैं, लेती हूँ धूप,
उच्च अवलोक मृत्तिका - स्तूप।

'सेर भर की है यह लोखड़ी,
पूछ है सवा सेर की बड़ी';
इसी जामे में मैं हूँ सुखी,
बनूँ किस तरह चन्द्रिकामुखी'?

सहचरी लोमा का ले पक्ष,
मयूरी कहती - 'हैं शिशु दक्ष;
बाद छोड़क के कितनी वार
दे चुकी मोर - मुकुट उपहार।

लुटाने मोर - छले अ - प्रमाण,
नोचते फिर मोरों के प्राण';
मयूरी का मञ्जुल मुख पूज,
कोकिला कहती - 'कू - कू' कूज -

'बोलते मेरी बोली हाय !
साधती हूँ मक्कर निरुपाय ;
बलकती क्या न वायसी बहन' ?
'न होगा पक्षपात यह सहन ।

चिढ़ाते हैं वसन्त में तुझे,
छेड़ते सब मौसम में मुझे ;
गिलहरी, श्येन, कपोती, नकुल,
नीलवर, लम्बडोर, खग सकुल -

हंस, सारस, चकोर, टिट्टिभी,
सभी से रहती इन की निभी ;
काक से जाने क्या है वैर ?
कुटी पर बैठ देखता सैर -

बाल भर बच जाती है आँख,
सींक - शायक से उठता काँख' ;
कहा सीता ने - 'बाल अनाथ,
न उठता इन पर मेरा हाथ ।

कहूँगी मुनि बाबा से खोट,
लगायेंगे लकुटी की चोट';
शील पर तपोधनायें हँसीं,
निजाश्रम की चर्या में फँसीं।

असम्भव क्या है कलि - युग में न ?
सबल निर्बल की क्यों वलि लें न ?
धन्य सीता का आश्रम धन्य,
न करती कार्य रूपी विष - जन्य।

लोटती थी पैरों में गोह,
बालकों से था कुछ व्यामोह;
ऋक्ष - रमणी कर बाल - विनोद,
बिठाती थी कुश, लव को गोद।

धरोहर वर्षों की एकत्र,
इन्हीं को देगी सौंप परत्र;
शूकरी, शशक, शृगाल, बिडाल
खेल में लेते पास उछाल।

खिलाती थी फल शाखामृगी,
मुदित होतीं मन में मृग-दृगी;
हुए बालक जब कुछ चैतन्य,
कार्य करते थे कौतुक-जन्य।

नित्य पूजन को प्रातः काल
कुसुम चुन लाते ले मुनि-बाल;
समझ कर निज जन्मान्त-प्रवास,
बैठती थीं मैथिली उदास।

पूछते थे कारण वटु अहा!
'किसी ने माँ, क्या कुछ कटु कहा?
नाम भर उस का देवें बता,
बतायेंगे हम उस को धता'।

टाल देती मा-'मेरे शूर!
खेलने जाया करें न दूर;
देखती हूँ विधु-सा मुखड़ा न,
चित्त रहता है क्या उखड़ा न?

खिझाते हैं मुनि - बाल अमौन -
तुम्हारा पूज्य पिता है कौन ?
तात से वञ्चित जो सन्तान,
पिता उस के हैं श्रीभगवान्'।

मातृ - आज्ञा के थे अनुकूल,
विपिन के होनहार थे फूल;
बड़ों के आगे ऊषा - काल
भक्ति से होते थे नतभाल।

निबट सन्ध्योपासन से सदा,
बैठ कर सभ्यासन से सदा,
शस्त्र, शास्त्रों का दे कर ध्यान
प्राप्त करते थे गुरु से ज्ञान।

इष्ट थी ऋषि - कुल सेवा क्या न ?
प्राप्त थी वन में मेवा क्या न ?
साधु - संगति का था फल क्या न ?
सबों को था विवेक - बल क्या न ?

यतीश्वर की अनुपस्थिति कभी,
न श्रुति - निर्णय कर पाती जभी;
सारिका तत्क्षण ब्रह्म - विवाद -
मिटाती दे सत्संग - प्रसाद।

मधुर रामायण - गायन - समय
कुटी पर बैठ शुकी, शुक - निचय;
मिला स्वर - लहरी में स्वर धीर,
नयन - पुट में भर लाते नीर।

तुच्छ पक्षी का सीता, राम -
नाम ले गद्गद् - गद्गद् हो, हृद् - धाम;
शोक, मानवी ज्ञान का स्रोत
भक्ति से रहे न ओतप्रोत।

पता क्या जीवन - कलिका प्रात?
खिले या अलि का कोमल गात
द्वन्द्व - गृह में ही पाये क्लेश,
काल का कहाँ नहीं है श्लेश?

गेय हैं पूर्व तपस्वी लोग,
कणों का करते थे उपभोग;
तपस्या में रहते थे लीन,
बना लेते थे शास्त्र नवीन।

सार्थ ही त्रासार्तों को शरण
सदा देते कर सुख-सम्वरण;
विश्व भर के बालक निःशुल्क
सीखते थे सभ्यता अनुल्क।

बात पर दिखा तपोबल-रूप,
रङ्क को कर देते थे भूप;
कथा क्या कुश, लव की न प्रसिद्ध?
हृदय था क्यों महर्षि का विद्ध?

बनें दोनों कुमार आदर्श,
करे लोक-श्री चरणस्पर्श;
गुणों पर थे सु-प्रसन्न तपकृश,
संग रखते थे छाया-सदृश।

खेल क्या है स्वराज्य - योजना ?
प्रजा का मन पड़ता खोजना ;
इसी चिन्तन को रख कर अग्र ,
निमन्त्रित थे ज्यौतिषी समग्र ।

कौन नहीं देखना चाहता
प्रिय तरु फलता तथा फूलता ?
प्रति पल पूर्ण पलित पलकों में
झूला - सा था दृश्य झूलता ;
उठती थी कल्पना - तूलिका ,
हृदय न था संकल्प भूलता ;
साधक को बाधक बन जाती
कब मुहूर्त्त की अननुकूलता ?

द्वादश सर्ग

ले चुकी अर्घ्य - दान थी बहु,
दिवस भर की सन्ध्या प्यासी;

विहग नीड़ों में थे निस्पन्द,
चतुर्दिक् था कोलाहल बन्द,
एक रजनी को मुनि सानन्द,
कर रहे हरि - चर्चा स्वच्छन्द;

उपस्थित थे सब वन - वासी,
गृही, वड, बालक, संन्यासी।

लूटने को सेवा - मेवा,
शिष्य, गुरु का जोड़े नाता -

पास आसन के कुश, लव वीर
खड़े थे धनुष और ले तीर,
यदपि थे बालक, थे पर धीर,
महापुरुषों के सम गम्भीर;

सकल विद्याओं के ज्ञाता,
प्रबल थे दोनों ही भ्राता।

दया - वश या प्रसङ्ग - वश ही,
रोक हरि - ज्ञानामृत - जव को -

कहा मुनि ने - 'साक्षी संसार,
राज्य का होता गुरुतर भार,
क्षत्रियों का ही है अधिकार,
वही करते आये हैं पार;

अतः रखने वन - गौरव को,
चाहता हूँ नृप कुश, लव को'।

'प्रात-वेला मुहूर्त है शुभ'
पुरोहित थे पत्रा खोले-

'न स्वीकृत किसे सुभूप-नियुक्ति ?
करें क्या हम इस की पुनरुक्ति ?
इसी में है जगती की मुक्ति,
मिली क्यों खोयें स्वर्गिक भुक्ति ?

उषे, तू अभी उदय होले'!
सभी कर-तल-ध्वनि से बोले।

निशा भर में ही लोगों ने
तिलक-रचना सारी विरची;

तीर्थ सब धर ऋषि, मुनि का वेश,
रमा, श्री विष्णु, कुवेर, सुरेश,
शारदा, उमा, विरिञ्चि, महेश
देखने आये पुण्य-प्रदेश;

अप्सरागण के सङ्ग शची-
स्वयं आयी थीं धूम मची।

प्रथम से ही थे कानन में
सिद्ध, तापस, योगी, जङ्गम;

आगतों के स्वागत को तत्र
तपोधन थे नियुक्त सर्वत्र,
तिलक-सम्भार क्या न एकत्र?
फूल, फल, फलित लता, द्रुम-पत्र;

देव, मानव का था सङ्गम,
कामना थी शुभ हृदयङ्गम।

मूल से नत निस्तब्धा का
हो चुका था क्रमशः कर्त्तन;

निशा का था प्रायः अवसान,
अरुणशिख की ध्वनि धीर महान्,
दिशाओं की सस्मित मुसकान
कर रही थी मन को आह्वान;

हो रहा था कीर्तन, नर्त्तन,
प्रकृति में था कुछ परिवर्त्तन।

नित्य से नव लावण्य लिये,
हो चला अम्बर लोहित था;

अहा, कैसा प्रिय समय प्रभात!
बह रही थी वासन्तिक वात,
ओस की बूँदों का विनिपात
मोतियों के समान अवदात-

मृदुल तृण पर न तिरोहित था,
विहग-रव करता मोहित था।

मनोरम थी जागृति वन में,
स्रोत, सर, सरिता में कल-कल,

धेनु-वत्सों का रव उद्दाम
बुलाता था ग्वालों के ग्राम,
निशा का जग से परदा श्याम
सिमटता जाता था अविराम;

वर्त्म में पथिकों की पद-चल
सुनायी पड़ती थी पल-पल।

न भय - वश और न स्वेच्छा से,
नियति के नियमित आशय से -

मन्द - सा था कुछ चन्द्रालोक,
अमित पद्माकर, कोकी, कोक
हो रहे थे अति मुदित विशोक,
तमीचर घूक मूक तम - थोक -

जा रहे थे छिपने भय से,
गा रही थी श्यामा लय से।

जरा से ग्रसित जरठ के सम
श्रान्त हो रजनी - क्रीड़ा से;

थाम दूरान्त क्षितिज का छोर,
सुधाकर अस्ताचल की ओर -
जा रहे थे होते ही भोर,
द्रवित - सी थी पलकों की कोर;

विमुख थे व्योमिल नीड़ा से,
मलिन थे मृग की व्रीड़ा से।

विरह वल्लभ का सह न सकी,
पंखड़ी किस बल रहे खड़ी?

कुमुदिनी अवनत कर निज माथ,
उरोजों पर सिञ्चन कर पाथ,
विनय करती थी - 'जीवन - नाथ!
कहाँ जाते हो तज कर साथ?

कहो, क्या ऐसी विपत् पड़ी?
कठिन क्यों रुकना अर्ध घड़ी?

बने हो क्यों इतने आतुर?
न निज उर में धृति धरते हो;

प्रकृति की हास्यजनक वह बात -
याद क्या आयी, क्या उत्पात?
किस लिये होते स्वर्ण - प्रभात -
छिपाने जाते हो सित गात?

नटी से इतना डरते हो!
उसी का कहना करते हो।

हो रही मरणासन्न प्रिया,
नहीं क्यों अमृत पिलाते हो?

अरे, अमरत्व - दान का गर्व
किसी ने किया कहो क्या खर्व?
हुईं क्या क्षीण कलायें सर्व?
पड़ा है अथवा कोई पर्व?

भेद रख भ्रान्ति दिलाते हो,
होठ तक नहीं हिलाते हो?

सरसता, साहस, शान्ति नहीं,
अचानक हृदय - क्रान्ति कैसी?

उदय का सा न मोद प्राफुल्य,
प्रथम थे स्वच्छ रजत के तुल्य,
उठा है क्यों सहसा आकुल्य?
कालिमा का अब क्यों बाहुल्य?

मलिन है कान्त, कान्ति कैसी?
बिना मृग - तृषा भ्रान्ति कैसी?

ओज पा आत्म - योग बल से
किसे रुचता है अधःपतन ?

तोड़ तारक - दल की मृदु बेल,
छोड़ सुर - बालाओं का मेल,
अङ्क में ले मृग - शिशु अनमेल,
बिगाड़ा बना बनाया खेल;

कहो, कैसा यह पागलपन ?
अभी तक गया न शिशु - क्रीड़न ?

विश्व - वातूलों से न कभी,
साधुता खलता से डरती;

जान कर भी यह सब कुछ भेद,
फँसे दुर्व्यसनों में, है खेद !
सर्वथा करता वन्दन वेद,
पात्र में खा कर कैसा छेद ?

कुसंगति क्या न सृजन करती ?
सुजन में दुर्जनता भरती।

जलाशय की थी मैं रानी
किसी की आँच न भाती थी

उषा का मादक, मन्द समीर
बढ़ा कर विरहानल की पीर
उड़ाता है मम जीवन - चीर
तनिक ठहरो प्रिय, हो न अधीर'

व्यथा कैरविणी गाती थी
नींद में झोंके खाती थी

चैन से प्रिय - वियुक्ति पल भर
किसी को कब सोने देती!

जभी होती सचेत सह भार,
यही कहती थी वारम्वार :
'स्वर्ण - शर निष्ठुर प्रातति मार,
लगाती है क्षत में क्षर क्षार;

नहीं है स्थिर होने देती;
न श्रम रति का खोने देती

न लगता कहीं किनारा है,
तोष - तृण पकड़ रही हूँ तिर;

अनुचरी का हे प्राणाधार!
न जाने कब हो बेड़ा पार?
चकोरी के प्रिय, चलती वार
देख लो, लेते जाओ प्यार;

विनय इतनी ही है फिर फिर,
शिथिल हूँ, पड़ती हूँ गिर गिर'।

सोच में पग डगमगा गये,
विरह की गाथा गौण हुई;

कहा इङ्गित से - 'जीवन - सार!
विदाई में क्या दूँ उपहार?
ईश से विनती है बहु वार -
मार्ग में सर्व विघ्न हों क्षार';

कुमुदिका दिन को मौन हुई,
दशा क्या जाने कौन हुई?

पा सका लोक - विकास
युगों तक करने पर

सुरों ने लटकाये थे
अप्सरा - गण ने गूँथ स
निशाकर को पहनाये
वियत् में मस्त रहे थे

फेंकने उन्हें दूर स
बदलता था वनमाली

दिखाने निज चातुर्य - क
सलोना घूँघट पट फह

अनेकों कर माया - व्यापा
स्वच्छ करने को व्योमागा
प्रकृति भी झाड़ू हेमाका
लगाती थी बस व्योरेवा

रजतमय तारों का गजरा
टूट कर था भू पर बिखरा

चूमते थे द्विरेफ कलियाँ,
सज रही थीं उपवन - गलियाँ;

जगत् - उद्यान लुटा उपहार,
किसी का करते थे शृङ्गार,
महकता था सारा संसार,
प्रकृति पर था न कौन बलिहार ?

पृथक् कर कुसुमों की नलियाँ,
भर रही थी मालिन डलियाँ।

सर्वदा ही अस्तोदय में
एक रस जो कहलाते थे,

भग्न दिनकर हथकड़ियाँ देख,
नवोदय की शुभ घड़ियाँ देख,
स्वर्ण - माला की लड़ियाँ देख,
लता - फूलों की झड़ियाँ देख

मधुर मन में मुसकाते थे,
व्योम में चढ़ते आते थे।

बात है मानी हुई सदा
विजय पाता सर्वथा बली

सकल था छिन्न - भिन्न तम - पाश
भीषिका का हो गया विनाश
खिला था उन्नत भाग्याकाश
लोक में था सर्वत्र प्रकाश

समुज्ज्वल थी अब वनस्थली
हो रहा मङ्गल गली - गली

यशस्वी वन - प्रदेश बना
प्राप्त करने नव न्यायालय

बदलने वन - शासन का ढङ्ग
पूर्व से था कुछ अद्भुत रङ्ग
भरी थी सब में अमित उमङ्ग
छिड़ा था केवल तिलक - प्रसङ्ग

निकट ही था अभिषेक - समय
सुशोभित थे जानकी - तनय।

प्रशंसा में थे रत बन्दी,
झल रहे थे चामर सेवक;

सजी मुनि-वधुयें मङ्गल-थार
लिये थीं खड़ी सहज सुकुमार,
आरती साङ्गोपाङ्ग सुधार
मैथिली माता रही उतार;

कर रहे थे मुनि राज-तिलक,
सौंपने विपिन-राज्य-पत्रक।

पराया विभव न देख सकें,
स्वार्थ को ही जो हैं मरते-

देव वह कर निज करुणा-दृष्टि,
देख कर वन की शोभा-सृष्टि,
बन गये सरल कामना-गृष्टि,
ला रहे थे सुमनों की वृष्टि;

मोद भुवनों में थे भरते,
शब्द जय जय का थे करते।

अणु अणु, कण कण गुंजारा;
विहगों ने मन्त्र उचारा;

द्विज, मुनियों की मण्डली
स्नेह में ढली,
पुण्य में पली,
मनाने लगी हर्ष
आशीष-वचन के द्वारा-

'ऋषि-हंस-वंश-ज्योतियो!
युगों तक जियो,
अमर रस पियो,
स्वप्न में पड़े दृष्टि,
हो क्षीर नीर से न्यारा'।

त्रयोदश सर्ग

अनन्तर अभिषेकोत्सव के,
उतर नीचे सिंहासन से -

सहोदर कुश, लव जोड़े हाथ,
झुकाये चरणों में निज माथ,
विनय पूर्वक बोले - 'मुनिनाथ!

आप के ही अनुकम्पा - मय
विपिन में लालन पालन से
सकल सुख पाये शिशुपन से।

करे क्या वाणी गुण - वर्णन
चकित हैं सहस्रफण - भर्त्ता;

आप निर्बल के बल साकार,
दुःख - सागर से करते पार,
जानते हैं घट-घट का सार;

पूजता जग है पद - रज को,
न्याय सच्चे के हैं कर्त्ता,
धर्म - धुर के हैं ध्रुव धर्त्ता।

राज्य के जगड्वाल में पड़
भला किस का कैसे रहिये?

जीव सब जग में हैं क्षन्तव्य,
नृपति का है फिर क्या मन्तव्य?
कौन - सा पथ है शुभ गन्तव्य?

कौन कर्त्तव्य प्रजा के प्रति?
कृपा कर थोड़े में कहिये,
कष्ट अब इतना फिर सहिये'।

सभी के नीति - शास्त्रशाली
विनय - वाणी मन को भायी ;

कहा मुनि ने नय , धर्म विचार -
' रखे जो निज जनता पर प्यार ,
नृपति है उत्तम वही कुमार !

गया माना इतिहासों में
उसी का राज्य चिरस्थायी ,
न्याय का हो जो अनुयायी ।

स्वर्ग है उस को पग - पग पर ,
चाहती जिसे प्रजा सारी ;

सुसेवा करता प्राणी - वर्ग ,
सदा रहता है सुख - संसर्ग ,
न दुर्लभ है अपवर्ग , न भर्ग ;

ईशवत् लिये विशिष्ट कला ,
कहाता है वह अवतारी ,
दीन , दुखियों का हितकारी ।

किन्तु इस का यह अर्थ नहीं
किसी को कुछ भी दण्ड न दे;

चोर, लम्पट हो व्यभिचारी,
व्यर्थ ही कलह, क्रान्तिकारी,
क्रूर हो कुटिल, नीच, ज्वारी;

जान कर एतादृश जन का
उभरने कभी घमण्ड न दे,
फैलने कुछ पाखण्ड न दे।

नीति-शास्त्रों के पृष्ठों को
निहारा जाये दृष्टि जमा-

स्नेह का भाजन परम अगाध
करे यदि आत्मज भी अपराध,
उसे भी दे विधान में नाध;

किसी के आग्रह से मन में
न लाये स्वल्प दया न क्षमा,
करे संसार ग्रहण उपमा।

राज - पद पाते ही प्रायः
घेर लेती विलास - प्रियता ;

राज्य की बागडोर सारी
चलाते राज्य - कर्मचारी ,
नीति फिरती मारी - मारी ,

अनाथों - सी लुटती है श्री ,
स्थान पाती है निःश्रियता ,
नाश की जड़ है निष्क्रियता ।

धर्म , साहस को ही अपना -
सर्वदा चुने प्रधान सचिव ;

स्वयं स्वदेश - निरीक्षण करे ,
विजय पाने आक्रमण करे ,
शत्रुगण का मद हरण करे ;

विरति ले जग से परिणति में ,
योग - परिणति में सेवे दिव ,
सत्य है जो है सुन्दर , शिव ’ ।

भली विध श्रीवल्मीकोद्भव
तपोधन , ज्ञान , बुद्धि - वारिधि

बता कर कुश , लव को नृप - नीति
भगा कर भव की भारी भीति
भजन में मग्न हुए सप्रीति ;

प्रफुल्लित थी श्रद्धालु प्रजा ,
प्रजा - पालन की सुन कर विधि ,
मिली हो मानो , अक्षय निधि ।

विधानों में अनिवार्य सदा
प्रजा का , गुरु का ले सन्मत

धनुर्विद्या , बल के आचार्य ,
क्षात्रकुल - गौरव कुश , लव आर्य
चलाते थे निज शासन - कार्य ;

धन्य था भारत किसी समय ,
आज भी साक्षी क्या न जगत् ?
जहाँ शिशु तक थे न्याय - निरत ,

पुरा की शिक्षा ले गतिशील
आधुनिक यह शासन - संसार ;

राज्य में वन में कुश , लव के
न झंझट थे कोई भव के ,
चैन थे युवा , जरद्गव के ;

साम्य की ओर झुके थे लोग ,
किसी का जाति - सिद्ध अधिकार
न हरते चला कपट - व्यवहार ।

कदाचित् ही विषधर के लिये
पड़े होंगे पापड़ बेलना ;

श्येन को पञ्जर - बन्ध अपार ,
सिंह को जीवित कारागार ,
प्रबल कुञ्जर को अङ्कुश वार

स्वप्न में भी , भूले में भला
कभी पड़ता था क्या झेलना ?
प्रकृति की थी कब अवहेलना ?

न था सन्ध्यातिरिक्त बन्धन
सभा में था बन्दी विरला।

एक सन्यस्तों पर प्राचीन
दण्ड था, वह भी था स्वाधीन
धारने को कटि में कौपीन

पास थी ब्रह्मचारियों के
मौञ्ज की मञ्जुल सु-शृङ्खला
न थी बेड़ी, हथकड़ी-कला

छाँटने शुष्क यज्ञ-समिधा,
एक सम्प्रचलित था घर-घर;

हृदय पर कोई कहीं बलात्
कभी करता न कुठाराघात,
निधनता थी पर वय-पश्चात्;

निरन्तर कटु कर के बदले
प्रजा पर था करुणा का कर,
माँग थी, केशिनियों के पर।

बँधी थी श्रुति की मर्यादा,
न मर्यादा कृषि - क्षेत्रों में;

भूमिधर की अङ्गुल भर भू
द्वेष - लू को कब सकती छू?
विशारद थी जन - बुद्धि - वधू;

न बँटती थी रूखी रोटी
यष्टिकाओं में, वेत्रों में,
शील था हलधर - नेत्रों में।

निगम - चर्चा में होते थे
नाम के वादी, प्रतिवादी;

कराने स्वगृह - कलह - निर्णय,
न लेते अन्यों का आश्रय,
न करते अधिवक्ता पर व्यय,

बेंचते थे न बैल, बधिया,
चाल चलते सीधी सादी,
पहनते थे तरु - त्वक्, खादी।

न मिथ्याहार, विहार कह
सभी थे साधक, सुसंयम

विपिन के आस - पास प्रति ग्राम
खुले थे चर्खा - संघ ललाम
जहाँ सुविधानुसार निष्काम

काम करते थे यथासमय
श्रमी सेवादल पराक्रमी
नहीं था कोई अनुद्यमी

देवियाँ पतिव्रतायें थीं
शलभ सह जलती थी शलभी

पिशाचादिक, राक्षस, यम - दूत
विपक्षी - दल, वञ्चक, अवधूत
व्यर्थ भ्रम - भय के भारी भूत

चोरजन, व्याध - समाज, हठी
दृष्टि में आते थे न कभी
अभय थे छोटे, बड़े सभी

पड़े थे पीछे आठो याम
न दैविक, दैहिक, भौतिक दंश;

चतुर्वर्णों के युवा, अनूढ़,
वृद्ध, बालक थे धर्मारूढ़,
नहीं थे किंकर्त्तव्य - विमूढ़;

समझते थे जीवन का तत्व,
भले थे भूप विष्णु के अंश,
सुखी थे जीवमात्र के वंश।

झूलते कृषक - बाल थे सजे
डाल कर तरु - डालों पर पघा;

भयङ्कर टीड़ी - दल की दृष्टि,
सजल पाषाण - खण्ड की वृष्टि
न करती नष्ट सस्य की सृष्टि;

कृषीवल मौज उड़ाते सदा,
बरसती थी जब रिमझिम मघा
लड़ाते थे बधियों से बघा।

देश के बाहर पर - वश
न था लक्ष्मी का उल्लिञ्च

नित्य भू - स्वामी की फटक
अचानक दुस्सह दैवी - म
प्रबल वातूलोत्पात - प्रह

प्रलय, भू - कम्प विकार कठि
न सहने पड़ते थे किञ्च
सौख्य का था प्रति थल सिञ्च

व्रीहि - क्षेत्रों के दृश्यों से
न होता किस का हृदय हरा

पकाता था रस - रस मार्त्तण्ड
चणक, गोधूम, इक्षु, यव - खण्ड
न पड़ने देते थे कृषि - दण्ड

गृहागत पुजते देव - सदृश
घरों में था धन, धान्य भरा
धन्य थी वन की वसुन्धरा

किसी ने दोषारोपण का
वृथा ही दूष्य बीज बोया;

समर में कर राक्षस - संहार,
राम ने जग का भार उतार,
न क्या चाहा रघुवंश - कुमार

भविष्यत् में ऋषि - शिक्षण लें?
दुःख जायापति ने ढोया,
न सन्तति का जीवन खोया।

अलौकिक ब्रह्म, जीव के सम
किया कुश, लव ने यश - अर्जन;

स्वान्त में शुद्ध विचार रखा,
छद्म, छल का न विकार रखा,
सभ्य से सद्व्यवहार रखा;

किया उद्धार भूमिजा का,
सिंह - सम था तर्जन वर्जन,
प्रलय - घन - सा था गुरु गर्जन।

उक्ष के वत्सों के समक्ष
सुभग थे परम विशाल स्कन्
भुजायें कर सकती थीं अरु
जानुओं की स्पर्धा निष्कलुष
रुकावट डाले थे शर , धनुष

घड़ी भर को न छोड़ते साथ
उचित ही था वन - राज्य - प्रबन्ध
अराजकता है दूषित गन्ध

समर में प्रभु के इङ्गित पर
निडर हो मर कटने वाले -

बाण - विद्या में परम कुशल
किरातों की सेना के दल
नियत थे यत्र तत्र प्रति थल ;

बने थे मुनि - दारक सेनप ,
काल से भी डटने वाले ,
न तिल पीछे हटने वाले ।

सतत अग्रज की आज्ञा में
वीर लव रहते थे तत्पर ;

कहे जाते थे यह उपराज,
जहाँ जुड़ता था वीर - समाज,
वीरता की रखते थे लाज ;

सैनिकों के शिक्षण का भी
कार्य लव पर ही था निर्भर,
वनेचर थे कितने अनुचर।

दुर्ग में वनस्थली के गाढ़
कठिन था दिन में दस्यु - प्रवेश ;

कुहू फिर गहन कुहू ठहरी,
पड़े निश्चिन्त सकल प्रहरी
मस्त लेते निद्रा गहरी ;

दूतवर वनाधीश को नित्य
सुनाते थे ला शुभ सन्देश,
न रूपक, अतिशयोक्ति न श्लेश।

चली फूट थी वन्य साम्राज्य - शोभा ,
नभस्पर्शिनी सोहती थी पताका ;
परे थी कहीं लोक की भावना से ,
नहीं पङ्ख भी मार पाती बलाका ;
उषा प्रात में स्वर्ण का दान देती ,
लुटाती न क्या तारिका रौप्य - राका ;
तले पंक्ति - सम्बद्ध हो सर्व गाते
महामन्त्र थे मातृ-भू-वन्दना का ।

चतुर्दश सर्ग

आया कुश, लव-वर्ष-
ग्रन्थि का द्वादश अवसर;
दे आये सर्वत्र
निमन्त्रण-पत्र वनेचर।

देश-देश की मूर्ति
जुड़ी प्रमुदित कानन में;
वनदेवी के किन्तु
मलिनता थी आनन में।

सखियाँ बोलीं - 'देवि !
हर्ष में विस्मय कैसा ?
नव वसन्त में ध्वस्त -
सुमन का सञ्चय कैसा ?

जिस अभाव की पूर्ति
हृदय में सोच रही हो ;
कहने में निज भाव,
मान सङ्कोच रही हो -

उस की सम्प्रति पूर्ति
चन्द्रमुखि, यहाँ असम्भव ;
रहें दबाये और
विरह का कुछ दिन दुर्दव ।

जान बूझ मुनि ने न
अवध को शुभ दल भेजा ;
कैसे कौन निकाल
सामने रखे कलेजा ?

सुनी नहीं, शत्रुघ्न
सुना क्या गये दशा हैं?
लाते क्षत में क्षार
खगों के वाक्य - कशा हैं।

जितना रखती भाव
भगवती भगवत् - पद में,
हृदयङ्गम क्या मूर्ख
लोक करता निज मद में?

प्रभु करते हैं द्विगुण
प्रिया के गुण की पूजा;
इस से बढ़ क्या और
चाहती जनक - तनूजा?

परायत्त ही राज्य
अयोध्या में करते हैं;
अपनी प्रजा - समेत
मर्म - पीड़ा भरते हैं।

आगन्तुक ने एक
नया है वृत्त सुनाया ;
मृतक बाल ले विप्र
अवधपुर रोते आया ।

'हैं क्या राजा राम ?
दृगों का उज्ज्वल तारा
जननी, जनक - समक्ष
कर गया हाय किनारा' !

द्वार - पाल ने कहा -
' विप्र - कुल, धीरे बोलो ;
बहु विषाद में और
हलाहल यहाँ न घोलो ।

चिर घड़ियों के बाद
देव ने पलक लगाया ;
ताम्रचूड़ ने नगर
इसी भय से न जगाया ' ।

'मैं निद्रित हूँ, कौन
द्वारदर्शक कहता है?
भूसुर का सुन शोक,
राम का उर दहता है।

सोच रहा हूँ - द्राग्
विपर्य्यय युग का कैसा?
द्विज - कुल ने क्या उग्र
किया है पातक ऐसा'?

'इस अघ में भूपाल,
प्रजा दोनों हैं समतल;
कहीं सती - परिवाद
भला होता है निष्फल?

हुई कोढ़ में खाज
एक है और भयङ्कर;
वृषल - बाल शम्बूक
साधता तप प्रलयङ्कर।

पुण्य - दण्डकारण्य
तेज से जाता झुल - सा ;
तपोधनों का तीव्र
हो रहा तारा गुल - सा ।

इन्द्रासन हिल रहा,
रङ्ग रवि का है फीका,
जलता दीपक आज
अन्त्यजों के घर घी का ।

वध करिये चल वेग
विरत कर पुरश्चरण से ;
संत्रासित हैं जीव
समय के पूर्व मरण से'।

'पद - दलितों को उच्च
उठाता मैं आया हूँ ;
उर से भ्रातृ - समान
लगाता मैं आया हूँ ।

प्रजा खोल कर कान
न सुन पायी हो, सुन ले;
अपना शासक और
जिसे भी चाहे चुन ले।

शवरी, भिल्ल निषाद-
भाव मैं कहाँ बहाऊँ?
कुलोद्वहों पर वज्र
उन्हीं के हाथ ढहाऊँ'?

'भक्त नहीं शम्बूक,
विश्व का विद्वेष्टा है,
उस की धर्म-विरुद्ध
अनधिकृत-सी चेष्टा है।

हर-सा बन संहार
चाहता उच्च सृष्टि का,
दयानिधे, है पात्र
नहीं वह दया-दृष्टि का।

किया प्रिया का त्याग,
प्रभावित हो हठ - रत से;
कैसे होंगे विमुख
प्रजा के इस बहुमत से'?

स्वगत सच्चिदानन्द
एक क्षण चिन्ता लाये;
योग - क्रिया से देख
एक निर्णय पर आये।

'निज सपत्न को एक -
वार मैं क्षम सकता हूँ;
देने में सुर - राज्य
साध संयम सकता हूँ।

द्विज - द्रोही का भार
न राजा राम सहेंगे;
है कठोरतम क्रौर्य,
लोक - हित शस्त्र गहेंगे।

माना, अपना भक्त,
चराचर का द्रोही है;
क्यों न भेज दूँ स्वर्ग,
शूद्र स्वर्गारोही है'?

प्रभु ने इत्यवधार्य,
सुपावन कर-कमलों से
किया अङ्ग को स्पर्श
सद्यहृत सुमन-दलों-से।

'राम, राम' कह उठा
मृतक द्विज-बाल उसी क्षण;
पुष्पाञ्जलि के साथ
सुरों ने की जय अर्पण।

हो पुष्पकाधिरूढ़
राम पहुँचे दण्डक-वन;
स्वागत को इस बार
एक था बाल तपोधन।

पदाङ्गुष्ठ - बल खड़ा,
शिरोन्नत, स्व - भुज उठाये;
था ध्रुव - सा तप - लीन,
त्रिपुटि में ध्यान लगाये।

जिन के लव भ्रू - भङ्ग -
मात्र से सृति लय होती;
जग जाती है आशु
युगों की निद्रा सोती।

विविध क्रिया कर थके,
तपस्वी बाल न बोला;
अविचल रही समाधि,
इधर से उधर न डोला।

साधा खड्ग सरोष,
दया ने बढ़ चढ़ रोका;
निठुर काल ने भाग्य
विवश हो अपना ठोका।

संशय में पड़ गये
वीर कौशल्या - नन्दन ;
लायी सोपालम्भ
भर्त्सना अपना क्रन्दन ।

'ए रे दक्षिण हस्त !
निशङ्क कृपाण चला रे !
कितनों ही का घोंट -
चुका निर्दोष गला रे !

दुर्वह दोहद - खिन्न
प्रिया - निर्वासन में पटु !
तव नैष्ठुर्य - समक्ष
शक्ति क्या है शूद्रक - वटु ?

कैसी करुणा आज ?
खेद होता है मुझ को ;
इस में कोई ज्ञात
भेद होता है मुझ को' ।

चौंक पड़ा शम्बूक -
'प्रभो, मैं बात बता दूँ ?
चरण - कमल में प्रथम
दूर से माथ नवा लूँ।

कौन कृपा का पाठ
पढ़ा पाया दानव को ?
कर पहले कुछ भूल,
ज्ञान आया मानव को।

हों निर्वासित अनघ
सती मैथिली - सरीखी;
उस समाज में, शोक!
न जाये करुणा सीखी ?

किया अभय द्विज - बाल,
दण्डपाणी ने यम से;
पा जायेंगे मुक्ति
व्यक्ति मुझ एक अधम - से।

पा स - भाग्य सत्सङ्ग,
निधन तक तारण करता ;
कर अमरत्व प्रदान,
विपद्द है वारण करता '।

' अन्धक मुनि - शिशु हना,
पिता श्री में थी क्षमता ;
प्रिया - विरोधी पुत्र
करे किस बल पर समता ?

शिशो, चुना यह देश,
और क्या ठौर नहीं था ?
देख - रेख को गेह
वृद्ध शिर - मौर नहीं था ' ?

' मैं ही क्या ? अवधेश
स्वयं दो वार पधारे ;
जिस पर पड़ती विपत्,
वही आता इस द्वारे '।

आये देने दण्ड
दण्डकारण्य शूद्र को;
लगा वक्ष से लिया
उछाल नगण्य शूद्र को।

भूल गये कर्त्तव्य,
आ पड़ी भारी द्विविधा;
जलने पर न सुगन्ध
त्यागती चन्दन-समिधा।

देख पुराने चिह्न,
प्रिया की सुधि हो आयी;
'भिल्लिनियों की भीड़
कहूँ क्या मैं, लो आयी?

यह वह है रण-तीर्थ
लोक में धन्य कहाया;
जनक-लली के हेतु
स-रिपु गृध्रेश नहाया।

कञ्चन का मृग मान,
प्रिया सिर यहीं हुई थीं;
इषुओं पर अविचार
चढ़ा ली तीव्र सुई थीं।

मृगी, पूछ लो क्यों न,
कहाँ मृगनयनी मेरी?
लायी थीं उस काल
बहुत तुम हेरा-फेरी।

हृद, वृक्षो, तुम ने न
बतायी थीं वैदेही;
तुम को भी क्यों आज
पता दे लोक-स्नेही?

कहाँ कन्दरा गुप्त?
जहाँ खल खर, दूषण का
रहीं देखती युद्ध,
साथ गह शिव-भूषण का।

मुझे देख कर दूर
महकती कहीं चमेली ;
'मेली ले आखेट
सदा जाती है खेली'।

है विदारता स्वान्त
वृक्षवर कोविदार का ;
दे स्व - ताड़ना ताड़
सिखाता ढँग सुधार का।

झरबेरी के तीर
प्रकम्पित केली, केला ;
सज्जन दुर्जन - सङ्ग
फँसे, क्या करे अकेला !

सके जहाँ तक रौंद,
रौंद ले क्रूर करौंदे !
रघुपुर को दिन रात
लजा न किरात - घरौंदे !

पर्ण - कुटी , मिट्टी न
बता दे कहाँ कुटी है ?
क्या प्रत्युत्तर गाँठ ?
सम्पदा सकल लुटी है।

पञ्चवटी , उस पार
तुझे क्या मुख दिखलाऊँ ?
पल्ले में है दुःख ,
कहाँ वह सुख दिखलाऊँ ?

जग प्रपञ्च ने मुझे
एक बावला बनाया ;
कठपुतली के तुल्य
नृत्य की कला बनाया।

ऐसे अगम वियोग -
सिन्धु का पड़ा सामना ;
शम्भु - स्थापन की न
रह गयी शेष कामना।

जाम्बवान् की बुद्धि
जहाँ कुछ काम न करती;
पावन - पुत्र की प्रगति
खड़ी अङ्गद - सी डरती।

कारीगरी विचित्र
थकी नल, नील युगल की;
अक्षम लक्ष्मण वाण,
करूँ आशा किस बल की?

बढ़ा अगाड़ी पैर,
न पीछे मुड़ना सीखा;
पुष्पक, तू ही बोल,
बहुत दिन उड़ना सीखा।

भक्त सुतीक्ष्ण, प्रपूर्ण
हुई कुम्भज - जल - शय्या;
मुझ को है सुख की न
कहीं कोई थल शय्या।

यही अत्रि का धाम,
कहाँ माता अनसूया ?
उन की शिक्षा क्या न
सती - जग को अविदूया ?

करता मेरी लोक
असूया करे भले ही ;
हैं कुत्सा के योग्य
नहीं भोली वैदेही ।

चित्रकूट, मम एक
बड़ी कुविचित्र कथा है ;
कालकूट दे पिला,
मानसिक मर्म - व्यथा है ।

प्राचेतस् के धाम
अभी कैसे मैं जाऊँ ?
चल वैसे नभ - यान !
मार्ग जैसे मैं जाऊँ ।

अक्षयवट, क्षय कीर्ति,
कहाँ की आयी आँधी ?
बट कर शीर्षक-जटा
क्षीर से क्यों थी बाँधी ?

कर न सकूँगा स्नान
उतर कर पुण्य-त्रिवेणी !
खो बैठा हूँ क्या न
रूप की स्वर्गिक श्रेणी ?

कनक-विन्दु थे मिले
भरत को कहाँ प्रिया के ?
कर्त्ता अर्थ-विहीन
कहाता विना क्रिया के।

गोदावरी — जलौघ
गोद क्या चुका न यम-सा ?
तमसा, घूर घृणालु
घेर ले सम्मुख तम-सा'।

दे मुमुक्षु को मोक्ष,
विलपते निज पुर लौटे;
लिखित पुराने पत्र
प्रिया के लौटे - पौटे।

जनक - सुता ने वृत्त
सुना सखियों के द्वारा;
उर - वैश्वानर बढ़ी,
पा गयी और सहारा।

सब कुछ किया प्रयत्न,
भावना दबा न पायी;
बना स्नेह की रज्जु
दृक् - कलश भर भर लायी।

समझाने सब लगीं -
'माङ्गलिक कार्य विचारो;
छिपा विघ्न के अस्त्र,
सजा वन - द्वार निहारो।

हँसी माधवी सखी -
'ढुलकना कहा अशिव है;
आप्लावन शकुनार्थ
नहीं क्या नक्तन्दिव है'?

देवी बोलीं - 'तुझे
ठठोली प्रिय लगती है;
यहाँ रमापति हैं न,
अन्य सारी जगती है'।

'कहाँ नहीं है कहो
राम की व्यापक सत्ता?
उन की ईहा विना
नहीं हिल सकता पत्ता।

प्रकटे प्रह्लादार्थ
फाड़ कर अजगर खम्भा;
खड़े रह गये लोग
मान कर एक अचम्भा।

लायें मन में धैर्य,
समय की करें प्रतीक्षा;
अकार्यार्थ होती न
प्रेम की शिक्षा, दीक्षा'।

दूर्वादल से दुग्ध
सुतों को बैठ पिलाया;
प्रावेशिक — समुदाय
प्रेम से परस खिलाया।

महाराज क्या प्रीति-
भोज इस रूप करेंगे?
अष्ट सिद्धि आह्वान
भला किस रूप करेंगे?

महिमा किस ने अहो!
महामाया की जानी?
भाँप गये मुनिराज
पूर्ण थे ब्रह्मज्ञानी।

सेवा में थीं लग्न
ऋद्धियाँ, क्या थी चोरी ?
हो नीरस क्यों पाक ?
जहाँ हों रसा - किशोरी।

आबाल आयात समस्त मण्डली
पी पी सुधा - से रस झूमने लगी,
श्लाघा - कला की असमर्थता दिखा
माँ मैथिली के कर चूमने लगी;
आत्मीय सद्मस्मृति भूल - सी गयी,
धन्यस्थली में मिल घूमने लगी,
वाल्मीकि का हर्ष प्रकर्ष पूछिये -
आशा पुरा दी इस धूम ने लगी।

पञ्चदश सर्ग

जन्म - दिवस का स - समारोह
उत्सव प्रसरित था इस रूप ;
सीता से ले याचक - वृन्द
लुटा रहे थे रत्न अनूप ।

माथुर का वध कर शत्रुघ्न
मधुरापुरी बसा कमनीय ,
आये फिर वल्मीकज - धाम
ले सामन्त , चमू आत्मीय ।

मुनि ने सर्व जनों की भाँति
रामानुज का कर आतिथ्य,
मीठे वचनों से साशीष
प्रकट किये उद्गार अमिथ्य -

'जिस माथुर का पौरुष देख,
उठती थी वीरों के टीस,
महावीर, तुम ने रण - मध्य
चटनी उसे बनाया पीस'।

कहा अरिन्दम ने - 'मुनिराज!
यह किस का है पुण्य - प्रसाद?
महाजनों के पग की धूल
देती कहाँ नहीं आह्लाद?

ऋषिवर दें ऐसा वरदान -
पायें रघुपति - दर्शन तूर्ण;
बिना कमल - पद देखे आज
बारह वर्ष हो रहे पूर्ण'।

मुनि बोले - ‘ प्रभु - दर्शन - हेतु
कितने हैं उत्कण्ठित भक्त ;
करें शूर शर्वरी व्यतीत ,
श्वः मग मग में हों अनुरक्त ’ ।

‘ शिरोधार्य है यह आदेश ’
कह कर हुए सुवीर शयालु ;
परिचर्या में रहे विलीन ,
नहीं सो सके मुनि हृदयालु ।

अवध - सैन्य का अशन - प्रबन्ध
हँसी खेल क्या लिया विचार ?
कब होने देता उपहास
अक्षयान्नपूर्णा — भाण्डार ?

था उर में कितना उत्साह ,
मा का उर ही सकता जान ;
पूर्ण हुआ स्वजनों का स्वप्न ,
कुश , लव गाते थे मधु - गान -

‘नाम अयोध्यापुरी पुनीत
भुवनत्रय में है विख्यात
जिस के स्मरणमात्र से क्लिष्ट
मिट जाते हैं किल्बिष - व्रात

अमर - सखा , सुपरन्तप, वीर
शेषकीर्ति नृप दशरथ राज्य
करते थे सुरराज - समान
सुत - विहीनता थी पर त्याज्य ।

शृङ्गी ऋषि ने सरयू - तीर
कर पुत्रेष्टि - यज्ञ बलवान् ,
चौथेपन में अश्रुतपूर्व
किया भविष्य पुत्रफलवान् ।

एक सङ्ग सब का अवतार ,
कर्ण - वेध , उपवीत , विवाह ;
खाये , खेले , बैठे सङ्ग ,
सङ्ग सङ्ग सब हुए उछाह ।

भ्रातृ - चतुष्टय में अन्योन्य
नैसर्गिक जैसा था प्रेम;
चारो बहनों में भी क्या न
विश्वोत्तर वैसा था प्रेम'?

सुनी सुमित्रा - सुत ने गीति,
हुआ दृगों में वारि - प्रवाह;
पूछ उठे रण - सचिव विनीत -
'कौन गा रहा है नरनाह'?

सेनापति ने कहा - 'अमात्य!
ऋषियों के आश्रम में नित्य
स्रवता ऐसा घटना - स्रोत
ले सङ्गीत और साहित्य।

हैं शिशु कोई कला - प्रवीण,
विद्वत्ता के महा प्रतीक;
निशीथिनी में किसी प्रकार
परिचय नहीं पूछना ठीक'।

ले यति से प्रत्यूष विशिष्टि
कर आश्रम को भूरि प्रणाम
आये साज - बाज के साथ
अपनी जन्म - भूमि कृतकाम

परिषद् में कहते थे राम
'अवध - राज्य निष्कण्टक आज ;
हृदय चाहता नैमिष - तीर्थ
राजसूय का सार्जें साज'।

अनुमोदन में बोले विज्ञ
वामदेव, जाबालि, वशिष्ठ
'महाराज से कितनी बार
किया गया आग्रह भूयिष्ठ।

दैवी - यज्ञों से ही शुद्ध
सम्भव होता है पर्जन्य ;
पर्जन्यों से होता अन्न,
जीव धान्य से होते धन्य।

लिये वनस्पति महाविकास
करते हैं ओषधि, फल - दान ;
देव, पितृ, ऋषि हो सन्तुष्ट
देते हैं बलिष्ठ सन्तान'।

कहा भरत ने - 'कुलावतंस!
यज्ञ करें, है अक्षय पुण्य ;
शिक्षण देता है कुछ और
अपना ढला विगत तारुण्य।

यागों का है केवल ध्येय -
कटे लोक का कल्मष - पाश ;
राजसूय से होता देव!
बहुल राजवंशों का नाश।

क्षोणी के क्षितिपालक कृत्स्न,
प्रभु को कहते हैं आराध्य ;
उन को कैसे संयुग - हेतु
किया जा सकेगा सम्बाध्य'?

बोले नीचे को कर दृष्टि
सती ऊर्मिला के प्राणेश -
'मैं इस से सहमत हूँ अद्य
दिया भरत ने जो निर्देश।

हाँ, रखता हूँ सम्मुख एक
अपनी जन - हित अनुमति अल्प ;
अश्वमेध का रघुकुलराज
अभी - अभी लें शुभ सङ्कल्प।

लगी ब्रह्म - हत्या थी पूर्व
कभी पाकशासन को देव!
हुआ इसी से प्रायश्चित्त,
काटी अवभृथ ने अवरेव'।

'साधु - साधु' कह उठे महर्षि,
प्रस्तावना समझ सम्पन्न,
सम्प्रधारणा थी सब ओर,
हुए राम भी महाप्रसन्न।

यथायोग्य सब को सस्नेह
किया यज्ञ के लिये नियुक्त ;
क्या माथुर - विजयी शत्रुघ्न
रहते श्रेय - कार्य से मुक्त ?

पाया अश्वमेध - रक्षार्थ
साकेताधिप का आदेश ;
यात्रा में जाने से प्राक्
अन्तःपुर में किया प्रवेश -

इस आशा पर श्रीश्रुतकीर्ति
कर अपने षोडश शृङ्गार ,
वातायन से सखी - समेत
झाँक रही होंगी पथ - द्वार ।

पर यह सब देखा विपरीत ,
बैठी प्राण - प्रिया थी खिन्न ;
मुख पर था तद्वत् न उजास ,
उर - व्रण छिन्न, भाव था भिन्न ।

आयीं तो स्वागत के हेतु,
लाना चाही भी मुसकान;
किन्तु स्वसा - विच्छेदोन्माद
लगा डुबाने दृग् - जल - यान।

स्व - संव्यान से पोंछ दृगम्बु,
कर से कर आलिङ्गन गाढ़,
बोले - 'हर्ष - समय क्या बात
सुन्दरि, शोक - सरित् में बाढ़?

अग्रज से उपहार - स्वरूप
पाणिपल्लवे, किस के अर्थ,
अलका से भी एक विशेष
पाया माधुर - राज्य समर्थ?

होगी रानी तुम दिन एक,
मानेगा प्रशस्ति संसार;
महिषी - संकेतों पर भूप
क्षण, क्षण जायेगा वलिहार।

सजें सुवेश कुशध्वज - पुत्रि !
उर का तजें परम औदास्य ;
रघुपति का यज्ञानुष्ठान
किस के लिये नहीं समुपास्य ?

पधरायी जायेगी स्वर्ण -
प्रतिमा सीता की साकार ;
कला - कुशल कारीगर जूझ
हैं कर रहे पसीना क्षार ' ।

वाणी श्रुतिगत कर श्रुतकीर्त्ति ,
ले निष्काशित का सत्पक्ष ;
कहने लगीं - ' सर्वथा सत्य
कहती हूँ हृदयेश - समक्ष ।

होम , हवन के किसी प्रकार
मैं हूँ नहीं कदापि विरुद्ध ;
कहिये तो कह दूँ पतिदेव !
मन में हों न आप यदि क्रुद्ध ।

अपनी उपयम - वेला स्वामि !
करिये सप्तपदों का ध्यान ;
वरणी को समाज के मध्य
वर करता क्या वचन प्रदान ?

शुभ में पति के दक्षिण भाग
पत्नी होती शोभासीन ;
वामा जहाँ वाम भी हाय !
टिकने को अधिकार - विहीन ।

ऐसे वाजपेय को कोटि
है मेरा दूरतः प्रणाम ;
नारी है श्रद्धा का रूप,
श्रद्धा - रहित यजन किस काम ?

ज्येष्ठा के मार्गण में मुख्य
नहीं किसी का भी है हाथ ;
क्या है स्वर्ण - मूर्ति का मूल्य ?
जब तक मूर्तिमती हैं नाथ' !

'हंसगमनि, कुछ कहतीं ठीक,
मैं तो गया गुम्र्, सब भूल;
माथुर के झगड़े में निमग्न
करने पड़े सहन बहु शूल।

प्राचेतस् - आश्रम में एक
विभावरी भर किया प्रवास;
पर्ण - कुटी में वह ही हों न?
कुछ कुछ मुझे हुआ आभास।

सखियों की बातों ने किन्तु
दिया मुझे संशय में डाल;
तन्द्रा बनी वैरिणी क्या न?
अब तक पीट रहा हूँ भाल।

प्रत्यागमन - समय तत्रैव
लिया शिविर ने पुनर्विश्राम;
मिला व्यञ्जनों में क्या स्वाद,
किस का लूँ मैं सम्प्रति नाम?

पृच्छा की इच्छा थी किन्तु
थी आश्रम में भारी भीड़ ;
बना रही थी विसुध विभोर
बाल - वल्लकी की मृदु मीड़ ।

रूपसि, रहा न कुछ भी ध्यान,
अन्तर्द्धान हुई कब रात ?
लाया ध्वजिनी सकल ढकेल
जाने कैसे परुष प्रभात ?

शशिवदने, तुम को अवलोक
पुनः उठा सोते से जाग ;
देखो चल कर नैमिष - तीर्थ
कैसे होता है शुभ याग ?

जगती छोड़ छोड़ गृह - कार्य,
होगी दर्शनार्थ एकत्र ;
बहलाओगी मन किस रूप
एकाकिनी मनोज्ञे, अत्र ?

आओ लेकर मातृ - समाज ,
चपले , करो न यज्ञ - विरोध ;
सम्भव , प्रस्फुट हों देवान्
कहीं राजमहिषी का शोध ?

श्री माण्डवी , उर्मिला आज
सजा रही हैं हीरक - थाल ;
देंगी विप्र जनों को दान ,
जीवित हों श्री कहीं स - बाल ।

है सब का ही यही प्रयास -
माता हों फिर पदाधिरूढ़ ;
निन्दक का है एक कुटुम्ब
मानिनि , किङ्कर्त्तव्य - विमूढ़ ।

इस उधेड़ - बुन में कुल - पूज्य
श्री वशिष्ठ हैं सतत निमग्न ;
गुरु का ले आदेश परश्व
दीक्षा की निश्चित है लग्न ' ।

यह कह श्यामकर्ण कर अग्र
किया अनीक-सहित प्रस्थान;
सीता के निमित्त श्रुतकीर्ति
करने लगीं विविध पकवान।

खाते कन्द, मूल, फल नित्य
खाया होगा हृदय उचाट;
पहने होंगी वल्क-दुकूल,
दीं कौशेय-शाटिका पाट।

गुरु ने कहा-'वेदिका पूर्ण,
बैठे ऋत्विज, याज्ञिक, विप्र;
केवल राघवेन्द्र की देर,
रथ है खड़ा पधारें क्षिप्र।

समासार्थ है एक विचार्य,
सम्भव, उतर गया हो ध्यान;
गृही जनों के लिये सदैव
सपत्नीक है यज्ञ-विधान।

इसी महाध्वर के पूर्त्यर्थ
होते हुए न भी उत्साह,
क्या यजमान जनों को हार
करना पड़ा न अन्य विवाह'?

ठहर एक क्षण बोले राम -
'किया एक विस्रम्भण - घात;
पक्षि - पक्षिणी तक मुझ से न
करते सीधे मुख हैं बात।

यदि मैं बनूँ पुनः परिणीत,
केवल निज सर्वार्थ निहार;
तब तो सीता के प्रति घोर
पुनरपि होगा अत्याचार।

रिपुसूदन से श्री गुरुदेव
कह दें, लें वाड़व कौटाल;
जायें देखें मधुरा - राज्य,
काटें क्रतु का कटु जञ्जाल'।

'धन्य एकपत्नीव्रत राम'!
बोले सारुन्धती वशिष्ठ -
'किस को विदित नहीं ? अवधेश
हैं सर्वदा धर्म - सन्निष्ठ ।

निखिल विश्व के कल्याणार्थ
किया जा रहा यह हय - याग ;
धर्म - प्रजा पर सच्चा आप
रखते आये हैं अनुराग ।

रामभद्र का हो उद्वाह,
यह कब हम देते आदेश ?
एकयोषिता - व्रत की टेक
पालन करें सदा परमेश ।

पत्नी के अभाव में सर्व
उस की प्रतिकृति करती पूर्ति ;
स्वर्णपुरी से कर निर्माण
लाये भक्त विभीषण मूर्ति ।

प्राण - प्रतिष्ठा के पश्चात्
कठिन लगाना है अनुमान ;
अभी उसे सीता साक्षात्
समझ रहे हैं श्रद्धावान् ।

जिस क्षण आभूषण से पूर्ण
विग्रह का होगा शृङ्गार ;
स्वयमपि सर्वेश्वर पहचान -
नहीं सकेंगे पहली वार ' ।

कहा राम ने - ' लोक - हितार्थ
त्रिजटा - तातचरण - कृत भक्ति
करना ही होगी स्वीकार ,
गुरु के वचनों में बहु शक्ति ।

लक्ष्मण, ले ही आओ खोज ,
आज पहन लूँ और किरीट ;
राज - वसन सीता के बाद
काट गये हों कहीं न कीट ?

अङ्कित है उर - पट पर क्या न
अब तक वह वियोग की रात ?
कहा प्रिया ने क्या कथनीय ?
तुम ने भी न सुनाया तात ' !

सिसके शेषराज - ' हतभाग्य
किस मुख से देता सन्देश ?
हैं अन्तर्यामी , सर्वज्ञ
अपने महाराज राजेश ।

आर्या का अन्तिम सम्वाच्य
यही मुख्य था जो गुरुदेव
अभी अमृत - वाणी से सद्य
आ कर सुना गये स्वयमेव ' ।

कहा राम ने - ' कहाँ सुमन्त्र ?
हलके हाँकें रथ इस वार ;
सहन कर सकूँगा न कठोर
मार्ग - जनित झटकों की मार ' ।

कहा अनुज ने - 'हैं न सुमन्त्र,
उन्हें ले गये सङ्ग कुमार;
इन अपराधों के उपयुक्त
मैं ही हूँ विष का अवतार।

माता को पहुँचा वन - द्वार,
देख चुका दुर्दृश्य अशान्त;
परम पिता को ले जा क्या न
देखूँगा नाटक दुःखान्त?

बढ़ो घोटको, अब अटको न,
बनो पूर्ववत् नहीं सशङ्क;
श्रीरामाश्व - मेध में स्यात्
धुल जाये कुछ आत्म - कलङ्क'।

'प्रिया - वियोगज पीड़ा भ्रात!
बढ़ती ही जाती निरुपाय;
घिरता ही आ रहा तमिस्र
मुझ को जान निबल, असहाय।

राजकीय उर्वरा सुभूमि
अनुर्वरा हो रही प्रतीत ;
लगता मुझे कर्ण - कटु क्या न
मधुर शकुन्तों का संगीत ?

विषम गरल का देता काम
कलरविणी का कलित निनाद ;
बींध रहा मेरा अन्तस्थ
षट्पद, नलिनी का सम्वाद ।

दिगङ्गनायें लगतीं शून्य ,
है न प्रकृति में वह उल्लास ;
आँखों में चुभती सूचीव
हरित , श्याम दूर्वा की घास ।

उड़ा रहा पृष्ठोत्तर धूलि
धूलि - धूसरित अध्व अधीर ;
लगता पङ्किल और अपेय
कासारों का निर्मल नीर ।

बाल - गुड़ी बन उड़ता चित्त,
नभ नक्राकृति लगता वक्र;
घूम रहे तरु यन्त्रारूढ़
अथवा मेरी मति में चक्र ?

सप्ति चल रहे दुलकी चाल
पर वह कहाँ पूर्व का चाव,
देता है परिवेदन और
स्यन्दन का मञ्जुल मृदु राव।

समझ चक्रवर्ती सम्राट्,
नत होते पन्थी, पुर, ग्राम;
किन्तु न है वह श्रद्धा - भाव,
वामा विना विश्व है वाम।

हिल मिल ग्राम्य - वधूटी सौम्य
करतीं पारस्परिक विचार -
'राम जा रहे बरसों बाद
सीता का करने मनुहार'।

मिला न त्यक्ता का ज्ञातव्य,
हुए अष्टदश अब्द व्यतीत;
मधुर मिलन ने मानी हार,
कटु विक्षिप्ति गयी है जीत।

प्रिये, तुम्हारी प्रतिमा एक
अब रह गयी मुझे आधार;
इतना था हिरण्य - मृग प्रेय,
स्वयम् हो गयीं हेमाकार।

भूल गया, जय के उपरान्त
लाया स्वर्णपुरी से गेह;
रहती वहाँ स्वर्ण - सम स्वच्छ,
कोई क्यों मढ़ता सन्देह'?

रथ - यन्ता बोले - 'हे दैव!
कर दम्पति में पुनर्मिलाप,
इस दुर्वह वाहक का दूर
कुछ तो हो पिछला सन्ताप।

अश्वमेध में मुनि वाल्मीकि
हुए निमन्त्रित हैं स-समाज;
उन के ही आश्रम पर छोड़ -
आया था मैं कुल की लाज।

जगज्जननि, क्या तेरा पुण्य
तेरा ही न रखेगा मान?
रथ से उतर सुरसरी - तीर
दिया मनोरथ भर था दान।

यदि जीवित होंगी, निर्व्याज
चलता ही होगा श्रम - दान;
गर्भवती की दशा विलोक
गिरा जलधि में रवि उत्तान।

यहाँ सूर्य - कुल के शिरमौलि
वार वार खा रहे पछाड़;
दिये चल रहा विनिराधार
अपने पापी तन की आड़।

क्यों न ठोक लूँ अपनी पीठ ?
वाह वाह रे लक्ष्मण , वाह !
आगे को भी दी है खोल
तू ने ऊबड़ - खाबड़ राह '।

'शुभलक्षण , तुम हो निर्दोष ,
दोष लगाये उस को दोष ;
बाँध रहा हूँ अपनी गाँठ
युष्मदीय सेवा का कोष ।

ऐसी विषम स्थिति में ओह
किस के बल-बूते पर लाल !
अपना किसी न किसी प्रकार
रहा प्रजा - व्रत हूँ मैं पाल ।

इसी महाव्रत के सिद्ध्यर्थ
निज पूर्वज निमि आदि अगण्य
आये थे करने तप साध्य
पावन तीर्थ नैमिषारण्य ।

देखो, कैसा है अति रम्य
वातावरण यहाँ का शान्त ?
पाजायेगा ईषण शान्ति
अपना भी मानस विभ्रान्त।

बैठे हैं ऋषि, मुनि, यति - पुञ्ज
ब्रह्म - तपोव्रत में आलीन;
कितना त्याग सिखाती शुद्ध
खादी की गैरिक कौपीन।

रोको रथ, तप में विक्षेप
है डालना महादौरात्म्य;
तीर्थस्थल में है सब काल
पैदल ही चलना माहात्म्य'।

इतना कह सानुज अवतीर्ण
रथ से हुए भानु - कुल - भानु;
तीर्थदेव को किया प्रणाम
भू पर युगल टेक कर जानु।

सुनते ही स्वागत को दौड़
आया कहता तीर्थ - समाज -
' सफल हमारा नैमिष - वास,
सकुल पधारे कोशलराज।

प्रार्थना परेश से,
भावना भवेश से,
कामना गणेश से,
साधना सुरेश से,
याचना धनेश से -
जन्म हो जहाँ जहाँ,
प्राप्त हों वहाँ वहाँ
भूप कोशलेश - से,
रम्य राम - वेश से '।

षोडश सर्ग

मध्याह्नोपरान्त था,
यौवन - काल दिवस का
ढलता ही जाता था,
आश्रय था साहस का।

अर्ध सरणि से आगे
पार कर चुका रवि था;
मूल काव्य के पन्ने
लौट रहा क्यों कवि था?

पृच्छक पूछ रहे थे -
'मर्त्य - लोक में साम्प्रत
कौन बड़ा धर्मात्मा,
सत्य - प्रतिज्ञ , दृढ़व्रत ?

देवों में किस की है
सब से बड़ी प्रतिष्ठा ?
यज्ञों में रखता है
कौन अलौकिक निष्ठा ?

किस के द्वार पहुँच कर
रिक्त न जाते याचक ?
किस के अधिक विशेषण
हैं यथार्थ गुणवाचक ?

चरित गेय है किस का,
कौन प्रजा - वत्सल है ?
त्याग, शीलता किस की
रखती अति सम्बल है ?

धनुर्वेद में किस का
लोक मानते लोहा ?
सत्य पराक्रम किस की
भुज विशाल में सोहा ?

अहोरात्र सन्तों से
रहता कौन समावृत ?
किस का प्रिय दर्शन है
करता हृदय चमत्कृत' ?

जिज्ञासा सुन बोले
राम - चरित - निर्माता
' केवल आज राम में
ये गुण मैं हूँ पाता ।

चिन्त्य दशा में भी हैं
आत्म - प्रजा - हितचिन्तक ;
कौन साधु , सन्तों का
है इतना परिपोषक ?

है न राम - सा जग में
कठिन प्रजा - व्रतधारी ;
तजी बिना अघ जन - भय
साध्वी , सीता नारी ।

राम - धनुर्विद्या को
पण्डित रावण समझा ,
अथवा जो भी उन से
काल - विवश हो उलझा ।

अब तक जिन के कुल की
यज्ञ - धूम की रेखा
अङ्कित व्योम - पटल में ;
आगे किस ने देखा ' ?

वचनामृत मुनि - मुख से
बहु विध ढरक रहे थे ;
वाम अङ्ग सीता के
फर - फर फरक रहे थे ।

इतने में ही आया
दूत अवध का प्रेषित ;
स्वर्णाक्षर में अङ्कित
लिये पत्र उन्मेषित।

पहले मुनि - चरणों में
सादर मूर्ध झुकाया ;
यज्ञ - पत्र से अविरल
फिर कर - कमल सजाया।

उटज - गवाक्षों से छिप
महिला झाँक रही थीं ;
कुङ्कुम - दल का आशय
मन में आँक रही थीं।

चाल , ढाल , आकृति से
जान गयीं - ' अति पावन
प्रभु - पद - पद्म - स्नेही
हो न अवध का धावन ?

मुझे बुलाया होगा,
कैसे मना करूँगी?
प्राण-नाथ की आज्ञा
क्या मैं शिर न धरूँगी?

मुझे नहीं पर कोई
ऐसी लगती आशा;
दुःख-सङ्गिनी मेरी
युग-युग जिये निराशा।

कुश, लव मेरी मिट्टी
सरयू मत ले जायें;
वनस्थली में मेरी
शान्ति-समाधि बनायें।

अरे, अवध के गीधो!
अस्थि न तुम पाओगे;
कभी निधन पर मेरे
मन में पछताओगे।

मेरी क्या, मैं तो हूँ
प्रभु - प्रतिमा उर धारे;
कोई कहीं, मुझे क्या?
पत्थर से शिर मारे।

किन्तु अभी क्यों अपना
जग को भेद बताऊँ?
क्यों न दूत - वार्ता पर
चञ्चल चित्त लगाऊँ'?

बोला सेवक - 'शुभ दल
गुरु वशिष्ठ ने भेजा;
वाजिमेध की कृति में
रघुपति को उत्तेजा।

विनय सानुनय की है -
ऋषि - कुल - सहित पधारें;
यज्ञ आप का ही है,
भाव न और विचारें।

प्रणय - पत्रिका मेरी
समझें मुझ से बढ़ कर ;
कृपया सब आश्रम को
समुद सुना दें पढ़ कर ।

समय पा सका, मैं भी
राम - सहित आऊँगा ;
सरोजाङ्घ्रि गह साग्रह
नैमिष में लाऊँगा ।

वनस्थली से नैमिष
रखता है बृहदन्तर ;
कष्ट न दें चरणों को,
आता है रथ सत्वर' ।

तदनु पत्र - वाहक ने
लेना आज्ञा चाही ;
सब बोले - 'यह कैसे
हो सकता पथ - ग्राही !

क्षणिक विना श्रम खोये
चले यहाँ से जाओ ?
जल, फल पा लो, फिर तुम
भले यहाँ से जाओ।

यज्ञ - निमन्त्रण सब को
क्यों स्वीकार न होगा ?
सुकृत - कार्य से अपना
क्या उद्धार न होगा ?

कहो राजगुरु से जा,
करें हृदय मत थोड़ा;
देखा फिर जायेगा,
निर्भय छोड़ें घोड़ा।

इस से बढ़ कर हम को
हर्ष और क्या होगा ?
मङ्गल - दायक वन का
वर्ष और क्या होगा ?

रामदेव ने सब को
आस्था - सहित बुलाया
ब्रह्मावर्त्त हमारा
उर से नहीं भुलाया

कहने को प्रभु हैं ही
मर्यादा — पुरुषोत्तम ;
हम उन को ईश्वर से
नहीं मानते हैं कम ।

उन की नर - लीला का
पारावार नहीं है ;
हुआ जगत् का उन से
क्या उपकार नहीं है ?

इतना ही विस्मय है -
दीपक - तले अँधेरा ;
कहाँ शरण फिर पाता
तम प्रकाश का प्रेरा ?

पथिक प्रात का भूला,
सन्ध्या गृह आ जाये;
भूला नहीं कहाता,
पता ठीक पा जाये।

स्वयं राम - गुरु लेने
कहना, श्रम न उठायें;
वैसे आश्रम उन का,
जब चाहें तब आयें।

महाराज की आज्ञा
कब किस ने अवहेली?
वन - देवी को कैसे
हम दें छोड़ अकेली?

पहुँच सके पहुँचेंगे,
कुछ प्रबन्ध सोचेंगे;
बाल यज्ञ - दर्शन को
बाल न क्या नोचेंगे?

ऋषि, मुनियों के बालक
शीस चढ़े हैं ऐसे -
हम ही मानो उन के
एक सगे हों जैसे'।

गया राज - सुख गाता
वनस्थली का वैभव ;
परिभ्रमण कर आये
कुशल पूछते कुश, लव।

'शुभ मुहूर्त में किस ने
कनक - पत्रिका लिख कर ?
कर - सरोज को अपने
किया कृतार्थ महत्तर ?

किस पुर, ग्राम, नगर ने
गुरु को कर आमन्त्रित ?
चाहा शुचि पद - रज से
रखना नहीं प्रवञ्चित ?

किस नृप का सिंहासन
बिठला सु - तपोधन को ?
करना शुद्ध चाहता
प्रजामात्र के मन को ' ?

श्री महर्षि ने भूयः
पढ़ कर पत्र सुनाया ;
उपासना के गृह में
उच्च - स्थान चुनाया -

जिस से अयोनिजा भी
पढ़ लें, निज मन भर लें ;
भाव प्रजा का क्या है ?
एक कल्पना कर लें।

' प्रिय कुश लव , हम सब को
इज्या में चलना है ;
बहु दिन का अधिरोपित
वाञ्छा - तरु फलना है।

जो भी आश्रम - वासी
जाने को इच्छुक हों ;
राजा राम - मिलन को
चेतस् में उत्सुक हो -

कह दो, चले साथ में,
कुछ सङ्कोच न लाये ;
सादर सब को लेने
सुन्दर वाहन आये ।

चाहें, वन - देवी भी
चलने को प्रस्तुत हों ;
आत्रेयी आदिक से
पुष्पक पर संयुत हों ।

कहना वासन्ती से -
आज वसन्त मनाये ;
वहाँ न कहीं यहाँ - सा
अल्हड़पन दिखलाये' ?

कुश, लव बोले - 'कोई
महायज्ञ में जाये;
शत यज्ञों के फल को
बिना परिश्रम पाये।

हमें न पृथग् निमन्त्रण,
मन ललचायें हम क्यों?
स्वाभिमान का समुचित
पालें नहीं नियम क्यों?

हमें बुलाना होता,
नाम नहीं क्या लिखते?
योग्य बालकों के कुछ
काम नहीं क्या लिखते'?

सुन कर मुनि मुसकाये,
प्रिय थी प्रज्ञा - प्रियता;
कहीं भला छिपती है
क्षत्रिय की क्षत्रियता?

'वीर कुमारो, सोचो -
किस ने यज्ञ रचा है?
बिना निमन्त्रण कोई
स्नातक यहाँ बचा है?

अन्य कार्य में जाना
है अपमान - विधायक;
अनाहूत होमों में
जाना कीर्ति - प्रदायक।

कौशिक - सङ्ग जनकपुर
सानुज राम गये थे;
थी न कामना कोई,
वे निष्काम गये थे।

विजय चाप - मख ने दी,
यह थी गुण की क्षमता;
रज - क्षेपण से मिटती
नहीं अरुण की क्षमता।

निज सङ्गीत - कला का
चल कर करो प्रदर्शन ;
उर में गर्वाङ्कुर का
हो न मात्र भी स्पर्शन ।

वीणाओं पर दोनों
गा कर मेरी कविता ,
जन - जन में लहरा दो
राम - चरित की सरिता ।

श्रद्धा - सहित बुलाये ,
उस के शिर - बल जाना ;
नास्तिक निन्दक के प्रति
राम - कथा मत गाना ।

कोई परिचय पूछे ,
अपना परिचय देना ;
दे उपहार - रूप में
द्रव्य न कुछ भी लेना ।

'वीर कुमारो, सोचो -
किस ने यज्ञ रचा है ?
बिना निमन्त्रण कोई
स्नातक यहाँ बचा है ?

अन्य कार्य में जाना
है अपमान - विधायक ;
अनाहूत होमों में
जाना कीर्ति - प्रदायक ।

कौशिक - सङ्ग जनकपुर
सानुज राम गये थे ;
थी न कामना कोई,
वे निष्काम गये थे ।

विजय चाप - मख ने दी,
यह थी गुण की क्षमता ;
रज - क्षेपण से मिटती
नहीं अरुण की क्षमता ।

निज सङ्गीत - कला का
चल कर करो प्रदर्शन ;
उर में गर्वाङ्कुर का
हो न मात्र भी स्पर्शन ।

वीणाओं पर दोनों
गा कर मेरी कविता ,
जन - जन में लहरा दो
राम - चरित की सरिता ।

श्रद्धा - सहित बुलाये ,
उस के शिर - बल जाना ;
नास्तिक निन्दक के प्रति
राम - कथा मत गाना ।

कोई परिचय पूछे ,
अपना परिचय देना ;
दे उपहार - रूप में
द्रव्य न कुछ भी लेना ।

कहना, राम-कथा-मधु
हैं निःशुल्क लुटाते;
भक्त मधुव्रत-हित में
साधन क्या न जुटाते'?

विधि, निषेध सुन गुरु का,
हर्षित युग्मज भ्राता
गये निकट जननी के,
बोले नत-'हे माता!

सारी तपोरतायें
हैं पाथेय सजातीं;
अश्वमेध चलने का
गीत मनोरम गातीं।

तुम क्या सोच रही हो,
क्या तुम नहीं चलोगी?
अभिनव बल्कल-साड़ी
फिर किस दिन पहनोगी'!

उच बोलीं वन - देवी -
'कुछ न सम्पदा जोड़ी ;
वधुओं को दिखलाने
साड़ी है रख छोड़ी -

आयेंगी , देखेंगी
और कहेंगी मन में -
'सास हमारी रहती -
थीं किस सादापन में ?

उन्हें नहीं रुचता था
बिना बुलाये जाना ;
अपने चिथड़ों में ही
कैसा था सुख माना'?

जाती हैं, जायें सब
ऋषियों की दारायें ;
सुत - वधुओं को मैं क्यों
छोड़ूँ यह धारायें'?

'दक्ष - यज्ञ' सुत बोले -
'क्या था इस से भारी ?
नहीं बुलाया फिर भी
पहुँचीं दक्ष - कुमारी'।

कहा जन्म - दात्री ने -
'गयीं सती यह माना ;
पर न पड़ा क्या उन को
दुष्परिणाम उठाना ?

मान नहीं पाने से
तन को हव्य बनाया ;
पितृ - यज्ञ को अपने
अशिव, अभव्य बनाया।

तनया, सदृश शिवा के
मुझ को है कब मरना ?
यज्ञ किसी का पावन
है न अपावन करना।

तुम्हें बुलाया जाओ,
क्षेत्र बनाओ नूतन;
किस का कौन कहाँ है?
नेत्र बनाओ नूतन'।

मातृ-भक्त सुत चौंके-
'प्रश्न निधन का क्यों है?
बना अभी जननी का
साहस ज्यों का त्यों है।

स्वर्ण-मूर्ति की पद-रज
अपने शिखर धरेंगे;
अमर बनें जनयित्री,
विनती सतत करेंगे'।

बोली मा-'क्या आशा
और मुझे बेटों से?
ईश्वर सदा बचाये
अघ की आखेटों से।

पुत्रयुगल , चिरायु हो ।

राज्य , सेना - दल बढ़े ,
स्वास्थ्य , पौरुष , बल बढ़े ;
शुद्ध आत्म - विकास से
सु - दृढ़ वज्रस्नायु हो ।

ज्ञान पौर्वापर्य का
हो अनुग सुतवर्य का ;
स्वजन में अभिव्यक्ति हो ,
अनुकूल कुल , जल , वायु हो ।

सजल घट की पौ मिले ,
पय पिलाती गौ मिले ;
विकृत शब्द न बोलता
मार्ग में गोमायु हो ' ।

सप्तदश सर्ग

देव - सभा से कहीं अधिक
था सुन्दर दरबार लगा ;
स्वर्ण - खम्भ में मणि - माला
दिव्य रही थी ज्योति जगा ।

श्रीमिथिलापति , लङ्कापति ,
पम्पापति थे राज रहे ;
कर में हनूमान् , अङ्गद
श्वेतवर्ण थे चमर गहे ।

शोभित राम सभा में थे,
उर में थी चिन्ता गहरी;
पास न थी पहली लक्ष्मी,
फिर भी थे लक्ष्मण प्रहरी।

'प्रभु, पादाब्ज - दर्शनोत्सुक
अविदित दो ऋषि - सुत आये;
गुरु वशिष्ठ का सम्प्रेषित
यज्ञ - प्रवेश - पत्र लाये।

ब्रह्मचर्य का दोनों के
अतुल तेज है आनन में;
राजसदन के रत्न युगल
कैसे उपजे कानन में?

ऐसे लगते हैं मानो -
हों वैराग्य, ज्ञान तनु - धर;
ब्रह्म, जीव - सम कहने में
पड़ता है थोड़ा अन्तर।

चन्द्र, सूर्य की उपमा दें,
तो कुछ है अत्युक्ति नहीं;
मुझ को ऐसा लगता है -
मैं ने देखा इन्हें कहीं?

महाराज की अनुकृति से
दोनों की अनुकृति मिलती;
देख रूप, सुन्दरता को
मुकुलित उर - कलिका खिलती।

रघुकुल का - सा वेश विमल,
तन्त्री मधुर बजाते हैं;
त्रिभुवन - पति का चारु चरित
नव शैली से गाते हैं।

तिलक ललाट लगे, शिर पर
जटा - जूट शोभा देते;
कुण्डल लोल कपोलों का
चुम्बन ले शिशु - सुख लेते।

दृक् - कञ्जों में कज्जल है,
खञ्जन - शावक लजा रहे;
जननी जीवित दोनों की,
अलङ्करण हैं बता रहे।

पृष्ठ विपञ्ची सजा रही,
एक ओर सु - निषङ्ग कसा;
दबी बगल धनु, मृग - छाला,
कटि में है कौपीन लसा।

नखशिख तक है भस्म रमी,
क्षत्रियत्व अवलोकन में;
कहा नहीं जा सकता है -
साधु बने क्यों बचपन में'?

सार्वभौम ने कहा मुदित -
'विरत बालकों को लाओ;
आवभगत से, स्वागत से
राज - शिविर में ठहराओ।

अहोभाग्य मेरा देखो -
शिष्ट - मण्डली नित्य नयी
ऐसी हेय दशा में भी
रखती दृष्टि स्नेहमयी ।

परिव्राजकों को मेरे
द्वार प्रवेश - निषेध नहीं ;
बिना सिद्धजन हो सकता
सिद्ध तुरङ्गम - मेध नहीं ' ।

रामाज्ञा पाते आये
प्रतपस्विनी - कुमार तथा ;
विष्णु - सभा में शोभित हों
श्री अश्विनीकुमार यथा ।

योगी बालक देख हुई
सारी राज - सभा स्तम्भित ;
राम - रूप से कौशल्या
रूप तोलतीं चकित मुदित ।

चाह उठीं - 'ले चुम्बन लूँ
इन के मृदुल कपोलों का';
वधुओं ने रोका - 'सुख लें
बाल - मुखों के बोलों का'।

'जय हो महाराज की' कह,
सादर दण्ड - प्रणाम किया;
परमहंस - पद - पद्मों में
हंस - बाल - सा स्थान लिया।

प्रभु ने पूछा - 'नाम'? कहा -
'कुश लव हैं भाई - भाई';
'माता कौन'? 'विपिनदेवी',
पूछा - 'पिता'? हँसी आई।

'परम पिता से भी बढ़ कर
गुरु अनुकम्पित हम पर हैं;
दोनों उन के बतलाये
चलते नित्य नियम पर हैं'।

'कौन आप के गुरुवर हैं'?
'ऋषि वाल्मीकि कृपापाणी;
काव्य - रूप में विमल वही
जिन की अमृतमयी वाणी'।

कहा भरत ने - 'नव गायक!
गुरु - कृत महाकाव्य गाओ;
राम - चरित के सागर में
हरि - भक्तों को नहलाओ'।

भरत - वाक्य सुनते दोनों
बैठे गायक - मुद्रा में;
लगी देखने भरी सभा
उत्सुक चातक - मुद्रा में।

वीणायें लीं, मिजराबें
तारों को चूमने लगीं;
राग, रागिनी मूर्तिमती
क्षण भर में झूमने लगीं।

मध्य, विलम्बित, द्रुत लय को
देख शारदा स्फुरित हुई ;
बिना बजाये नारद की
वाद्यध्वनि अङ्कुरित हुई ।

नाच उठे शिव डमरू ले,
गा प्रमत्त गन्धर्व उठे ;
एक - एक मात्रा, स्वर पर
'वाह - वाह'! कर सर्व उठे ।

बोले राम - 'भरत, इन पर,
राज - कोष न्योछावर है ;
पूछो, उपग्राह्य क्या दें ?
इन की रुचि पर निर्भर है'।

कुश, लव बोले - 'हम त्यागी,
हमें चाहिए त्याग सदा ;
दीनबन्धु का दीनों पर
बना रहे अनुराग सदा ।

केवल ध्यानमात्र जिन का
दुष्कैवल्य लुटाता है;
उन का पावन दर्शन कर
क्या न जीव फिर पाता है ?

एक भाव पर भक्तों के
लेते हो अवतार विभो !
द्वार - द्वार पर करुणा का
देते हो उपहार विभो !

विदेहजा इति करती थीं
निज जीवन के काण्डों की;
उठा लिया शिव का धन्वा,
डोली स्थिति ब्रह्माण्डों की।

संग लिया वनगमन - समय,
ऐसे ममता में खोये;
अमित समझ सीता अपनी,
ढार ढार आँसू रोये।

नाविक को कुछ देना था,
सब कुछ हो, कुछ पास न था;
भाव जनित्री जान गयीं,
दी मुँदरी, मन हास न था।

मृदुल करों से पहनायी
चुन - चुन सुमनों की माला;
अपराधी वासव - सुत को
अशुभनयन था कर डाला।

शूर्पणखा सम्मुख आयी
बन ठन नव शृङ्गार किये;
जाने क्यों स्वामी श्री की
ओर देख मुसकरा दिये?

कहीं स्वर्ण - मृग होता है?
यह सब कुछ समझते हुए -
नंगे पाँवों ही दौड़े
काँटों में उलझते हुए।

महामोह में भ्राता के
भ्राता से कुछ भूल हुई ;
सती सुचरिता साध्वी पर
यातु - दृष्टि प्रतिकूल हुई ।

फिरे खोजते विह्वल हो
अधित्यका , वन , गिरि - गह्वर ;
किस से पता नहीं पूछा ?
मथ डाले सर , सरि , निर्झर ।

' दशो दिशाओ , क्या तुम ने
अवलोकी हैं जनक - सुता ?
किस ने मेरी कुटिया की
दीप - शिखा दी हाय बुता ' ?

दीं जटायु पर वार जटा ,
बना मैथिली का साथी ;
खग कैसे जय पा लेता ?
रावण था अति उन्माथी ।

ऋष्यमूक पर कपि - पति ने
किस का दिया सुपरिचित पट ?
अपने उर से लगा लिया ,
कुछ दुख गया विरह का घट ।

प्रावृट् - ऋतु न कदाचित् थी
प्राकृत अद्रि प्रवर्षण पर ;
बरबस बरस पड़े स्मृति में
अश्रु किसी के घन बन कर ।

राज्य , कोष , पुर , नारी पा
सुधि सुकण्ठ भी भूल गये ;
सुहृद् - विरुद्ध दृश्य कितने
नलिन - नयन में भूल गये ।

देने लगे मरुत् - सुत को
साङ्गुलीय सन्देश सबल ;
विरह - वायु के विभ्रम में
हुए विकम्पित मृदु कर - दल ।

दशशिर - शिर - समूह शर से
शतशः शतशः शीर्ण किया ;
उर्वीजा उर - बीच बसीं ,
इस से उर न विदीर्ण किया ।

लङ्का - राज्य सखा को दे
आये अवध - राजधानी ;
महाराज थे आप बने ,
तिरहुत - सुता महारानी ।

विश्व विराजमान देखो -
सुर - वनिता , नृप , यति , गेही ;
लगा अवध - दरबार यहाँ
है न दीखती वैदेही ' !

अविरत कथा चल रही थी ,
सारी संसद् थी रोती ;
है पत्थर पिघला देती ,
अद्भुत कवि - वाणी होती ।

रोक मध्य में विभु बोले -
'यहीं कथा - विश्राम करो;
आदि कवीश्वर को मेरा
अर्पित सतत प्रणाम करो।

जर्जर मेरी स्मृति - मृगियाँ
स्वर - शर से तड़पाओ मत;
उर को परिवेदन होगा,
शिशुओ, आगे गाओ मत।

क्षण ले लूँ उपराम कहीं,
कार्य यज्ञ का होना है;
प्रिया त्यागने का धब्बा
यज्ञ - धूम्र से धोना है'।

'राजा रामचन्द्र की जय'
बोल हुई संस्थगित सभा;
दर्शक आगे चल देखें
सप्ततन्तु की स्निग्ध प्रभा।

वशी वशिष्ठ सधैर्य बढ़े
जहाँ यज्ञ की थी वेदी ;
थे कर रहे वेदपाठी
वेदोच्चार गगन - भेदी ।

पुष्कल तीर्थों के जल से
नहलायी स्वर्णिम प्रतिमा ;
रत्न - जटित सिंहासन पर
पधरायी स्वर्णिम प्रतिमा ।

आशिखान्त ढक मूर्ति गयी
आभरणों , मालाओं से ;
भोग - हेतु थे थाल भरे
मिष्ठान्नों , मेवाओं से ।

होत्र - पुजारी विनत खड़े
व्यजन अनारत ढार रहे ;
नर , नारी सच्छ्रद्धा से
थे आरती उतार रहे ।

अध्वनीन कहते - 'सच्ची
हैं इस ठौर सती सीता;
जिन्हें राम ने त्यागा है,
होंगी और सती सीता'।

जीवधारिणी क्षितिजा की
कभी न इतनी महिमा थी;
जितनी आज लोक - द्वारा
पूजित कृत्रिम प्रतिमा थी।

कुछ भी निर्गुणवाद कहे,
है निष्फल न मूर्ति - पूजन;
कभी न कभी लक्ष्य तक है
पहुँचाता सगुणाराधन।

यदपि नहीं था चाव तदपि
चौक सुमित्रा ने पूरा;
निज कुल की परिपाटी को
तिरस्कार से क्या घूरा?

नान्दीपाठ - सहित आये
मण्डप में श्री रघुनन्दन ;
बैठे दीक्षा - वेदी पर
कर ऋषि, मुनि, गुरु, ग्रहवन्दन ।

गठ - बन्धन करते ठिठके
कम्पित गुरु - कर कृति - तट से ;
'काम चलेगा सीता के
किसी पुरातन धृत पट से' ।

लक्ष्मण रोये—'लाया हूँ
अश्रु पोछने अग्रज के ;
कैसे मैं अंशुक देता
विना कहे गुरु - पद - रज के' ?

पाटाम्बर से सीता के
जिस क्षण हुआ ग्रन्थि - बन्धन ;
सत्य प्रियतमा की स्मृति में
होने लगे दृगश्रु पतन ।

मुड़ - मुड़ राम प्रिया - पट से
पलक पोछते जाते थे ;
निज आहों को स्वाहों के
साथ होमते जाते थे ।

वामदेव , जाबालि , च्यवन ,
कश्यप यज्ञ - ध्वजाधारी
बोले - ' राजिवलोचन को
क्या लग रहा धूम्र भारी ' ?

' उठ - उठ धुआँ घुट रहा है ,
यह अनुकथन सत्यकर है ;
किन्तु समझने में थोड़ा
लोगों के हाँ , अन्तर है ।

बाह्य घुटन हो , सह भी लूँ ,
अभ्यन्तर सह लूँ कैसे ?
आज्ञा यज्ञाचार्य न दें ,
बाहर जा टहलूँ कैसे ' ?

यजुर्विनिर्देशक सकुचे -
'जिन के इङ्गित पर अचला,
दे सकता अववाद उन्हें
है त्रिकाल में कौन भला ?

अनुमति दे स्व - भारती को
कुछ प्रशस्त कर सकते हैं;
अवधनाथ शुभ कार्यों में
क्या कदाचिदपि थकते हैं ?

फिर भी जब तक अश्व सजे,
कहीं जगन्नायक तब तक
तीर्थ - वाटिका में विचरें,
आजावें जब कढ़े तिलक'।

क्षण ली श्वास हुताशन ने,
वेद - संहिता - पाठ रुके;
सूत, भाट, मागध, चारण
ले विरुदावलि - कथा झुके -

'धन्य, प्रजावत्सल रघुनन्दन !
भक्तों के उर - चन्दन।

अंश - समेत अयोध्या प्रकटे,
रुका सूर्य का स्यन्दन;
मृदु, पावन चरणारविन्द का
किया सुरों ने वन्दन।

श्वास - समीरण बिना न संभव
पल को पवन - स्पन्दन;
करुणामयी देख नट - लीला
करती करुणा क्रन्दन'।

अष्टादश सर्ग

रामाश्व - मेध के लिये सुभग
था गया सजाया श्यामकर्ण ;
था उच्चैःश्रवा महालज्जित ,
अवलोक अवर्ण्य तुरङ्ग - वर्ण ।

चारों टापों में घोड़े के
नीचे चाँदी के नाल जड़े ;
खुर - नखावली के ऊपर थे
अनमोल रत्न , मणि , लाल जड़े ।

घुटनों में टँगी घण्टियाँ थीं
सावन - घन - सी घनघना रही;
जावक की लाल लगी थापें
तन की शोभा थीं बना रही।

कौशेय पीठ पर झँपी झूल
हिल - डुल झूला - सी झूल रही;
जड़ रहे सितारे, सलमे थे,
कैसी घमण्ड में फूल रही?

क्षणमात्र लूम पर क्या मजाल -
मक्खी अपना पर मार सके?
मच्छर, भुनगे की कहाँ पहुँच -
कानों के पास पुकार सके?

कञ्चन - कड़ियों की कामदार
मुख पर लगाम लगती ललाम;
आँखों की युग्म पुतलियों में
थी यज्ञ - ज्योति जगती ललाम।

नख से शिख तक गहने पहने,
जौं - जौं धरती था खूँद रहा;
मद के झागों से भिगा - भिगा
मिट्टी मैदा - सी गूँद रहा।

रघुवर ने रोली, अक्षत से
हय के माथे टीका काढ़ा;
सालिङ्गन चूमा, पुचकारा,
पृष्ठोपरि कर फेरा गाढ़ा।

प्रस्थान - वाद्य के बजते ही
रामाश्व उछल नाचने लगा;
स्वामी से यात्रा की आज्ञा
शिर झुका - झुका याचने लगा।

शैथिल्य प्राप्त कर वल्गा का
पल भर रुकना था महाभार;
हो गयी हवा हय पर सवार,
हो गया हवा पर हय सवार।

ऐरावत - सम गज झूम चले,
रथ चले देव - रथ के समान ;
मातलि - सम बैठे महारथी
पथ मथने मन्मथ के समान।

चढ़ भी न उष्ट्र - पति पाये थे,
बल - बल करते बढ़ चले ऊँट ;
खच्चर थे अशन, वसन लादे,
रह गये क्रोध का पिये घूँट।

उड़ चले पतत्री - से पदाति
पीछे - पीछे गद - पद करते ;
मधु, सिताखण्ड, नवनीत पचा
क्या वरूथिनी में भद करते ?

थे 'चन्द्रकेतु' 'रिपुमारकेश'
कहने को सेना - सञ्चालक ;
रामाश्वमेध का मेधावी
वास्तविक अश्व था अधिनायक।

उठ जाती थी जिस ओर दृष्टि,
यूथप पड़ते थे दौड़ उधर;
दिन लगता था गोरज - वेला,
रजनी लगती थी दिन दुपहर।

खँडहर, कङ्कड़, पत्थड़, कण्टक
आहट पाते झट हट जाते;
ऊबड़ - खाबड़ खाँई, खन्दक
उद्दाम धमक से पट जाते।

बावड़ी, नदी, नाले, तड़ाग
पथ दे पैरों में जाते लुठ;
ऊँची तरु - टहनी जातीं झुक,
नीची ऊपर को जातीं उठ।

थी सकल राज - बल पर छाया
उच्छ्रित इक्ष्वाकु - पताका की;
इक्ष्वाकु - पताका पर छाया
थी सुखद वलाहक - माला की।

अध्वग भगते थे इधर - उधर
ले ले अपनी जीवन - काया ;
लड़के कहते थे - ‘ भगो भगो ,
घोड़ा आया , घोड़ा आया ’ ।

हर्म्यों पर चढ़ी पौर - कन्या
लाजों की करती थीं बखेर ;
रत्नों की ले कर भेंट भूप
सम्मुख देते थे लगा ढेर ।

सम्वत्सर से भी अधिक समय
पावन पुनीत गोमती - तीर
निरुपद्रव चलता रहा यज्ञ ,
छेड़ा न किसी ने वीति वीर ।

वायव्य , अग्नि , नैर्ऋत्य मँझा
ईशान - कोण की ओर बढ़ा ;
आगया महावन में सहसा ,
क्या , किस ने शावर मन्त्र पढ़ा ?

बन - प्रतीहार ने कुश, लव से
जा कहा अश्व का उपाख्यान ;
तत्काल फड़क भुज - दण्ड उठे,
तन गयीं भ्रकुटि बन कर कमान ।

'उर्वी पर कोई वीर नहीं,
अर्वा के लिये न पकड़ सका ?
धिक्कार वीरता को जग की,
मुट्ठी भर व्यूह न जकड़ सका ।

लव, जाओ, देखो आहव में -
किस को हैं प्राण अनिष्ट हुए ?
क्यों इस अटवी की सीमा में
आज्ञा के विना प्रविष्ट हुए ?

ललकार पकड़ लो चपल अश्व,
अश्वत्थ - मूल से ला बाँधो ;
जो कोई हस्तक्षेप करे,
नाराच - पुङ्ख वपु में नाँधो'।

लवमात्र वीरवर श्री लव ने
जाने में नहीं विलम्ब किया ;
मुनि - कुमारकों को घोटक के
अवगुण्ठन का आदेश दिया।

'ठहरो' कह उठे सिपाही - गण
'घोड़े को हाथ लगाना मत ;
छोकड़ो, प्राण हैं यदि अभीष्ट,
आगे को पैर बढ़ाना मत।

जाओ, छिप जाओ दुष्प्रवेश्य
वन की वीथियों, झाड़ियों में ;
तप साधो तन में राख लगा
गिरि की कन्दरा, खाड़ियों में'।

लव बोले - 'काल - देवता के
सम्मुख हैं हम डटने वाले ;
हट जाओ सन्निकर्ष से तुम,
हैं बाल नहीं हटने वाले।

मौर्वी - जिह्वा से सम्वेष्टित
दो दाढ़ों वाली धनुष - कोटि
अन्तक - वक्त्राकृति से भक्षण -
कर लेगी तुम - से पुरुष कोटि'।

'है ढीठ माणवक' कह सेना
ऊपर टिड्डी - सी टूट पड़ी;
मुद्गर, भाला, बरछी, कृपाण,
तोमर, परिघों की लगी झड़ी।

देखा मुनि - बाल - मरालों पर
खेली जा रही रक्त - होली;
मूँड़ों से कूँड़े बाँध - बाँध
कढ़ चली हबूड़ों की टोली।

वर वाणों की बौछारों से
योद्धा किंशुक - से खिला दिये;
प्राणान्तक कुलिशायुध असंख्य
लुट - पुट मिट्टी में मिला दिये।

लघ्वी बहेलियों की टुकड़ी
क्या अक्षौहिणी - सङ्ग लड़ती ?
मानते हार क्या मुनि - कुमार ?
थी मार शतघ्नी की पड़ती।

लव की रोषानल भभक उठी,
बल जृम्भकास्त्र काटने लगा,
पृथ्वी पर टपकों के समान
पट - पट झट भट पाटने लगा।

खर विशिखों के सम्वर्षण से
सेना शिलोञ्छ - सी दी बखेर ;
प्राणों को ले ले यथातथा
भागे पीछे को पीठ फेर।

हँस भूत, प्रेत, कुपिशाच चले,
डाकिनी चलीं कर ले खप्पर ;
'गृह - युद्ध छिड़ा, लौटो दुष्टो'!
उठ डौंके आशुतोष शङ्कर।

तमके लक्ष्मण - सुत चन्द्रकेतु -
'भरतात्मज तात, 'तक्ष' 'पुष्कल'!
श्री शत्रुञ्जय के अनुगत हो,
देखो मेरा रण - कौतुक बल।

हे महामात्य, उपरत सुमन्त!
क्षण - क्षण रवकारी मेरा रथ
ले चलो अगाड़ी झटिति बढ़ा,
क्यों लव - यूथिनी लथपथ, विश्लथ?

अश्वेज्या के अवरोधक को
मैं नाकों चने चबा दूँगा;
टङ्कार धनुर्ज्या मुहुर्मुहुः
शर - खट्वा - मध्य सुला दूँगा'।

ली महारथिक ने बागडोर -
'हो चिरञ्जीव प्रिय औंर्मिलेय!
इक्ष्वाकु - रथध्वज - छाया में
मैं ने काटी वय अपमेय।

रणचण्डी , प्रलय - देवता का
ताण्डव सम्यक् प्रकार देखा ;
देवासुर का संग्राम भीष्म
स्वेक्षण से कोटि वार देखा ।

रघुवंश - सैनिकों को पीछे
हटते देखा है आज , हन्त !
राजर्षि - बाल का धृष्ट धनुष
है इन्द्र - धनुष को अति दुरन्त ।

जो कोतल वायु - वेग वाले
रिपु के मस्तक पर थे चढ़ते ;
कोड़े पर कोड़े पड़ते हैं ,
डग भी न अगाड़ी हैं बढ़ते ' ।

' हे आर्य ' कहा लक्ष्मण - सुन ने -
' मैं रथी और वह विरथ वीर ;
शिक्षा देता रण में अभीक्ष्ण
अश्वों का स्खलन न क्या अधीर ?

क्या सांस्कारिक जन्मान्तरीण
प्रतिद्वन्द्वी से मेरा संस्तव ?
परिरम्भण को क्यों पुलक रहे
मेरे भुज - दण्ड उभय अभिनव ?

गुरु विश्वामित्र - प्रदत्त अस्त्र
जृम्भक इन पर कैसे आया ?
यदि मातृ - गर्भ में सीखा है
तो इन को किस ने उपजाया ?

पर यौद्धिक कला - कारिता का
तर्कों से कुछ सम्बन्ध नहीं ;
वीरता वितण्डावादों की
उड़ने देती दुर्गन्ध नहीं ’।

कह उठा सूतवर का अनुभव -
‘ ठानें समीक शिशु हो सचेष्ट ;
मत घातक अस्त्र प्रयुक्त करें ,
हैं दीर्घबाहु शिक्षित यथेष्ट ।

समधिष्ठित काव्य - कल्पतरु पर
कूजते राम - रामेति मधुर
सम्भव है, उपसंहार करें
कविकुल - कोकिल वाल्मीकि चतुर'।

ले कर सुमन्त्र का मन्त्राशिष,
सौमित्रि - सूनु रघुवंश - भाल
उतरे रथ से जैसे गिरि से
मृगयार्थ उतरता व्याघ्र - बाल।

गरजते हुए समराङ्गण में
सन्निभ मेघों के प्रलयान्तक,
पहुँचे उस ठौर जहाँ उद्भट
थे युद्ध - परायण मुनि - डिम्भक।

'कोदण्ड - कला क्या कलाकार!
दिखलाते पोष्य - वर्ग पर हो?
रण - क्रीडा की अभिलिप्सा हो,
सङ्गर के मुख्य सर्ग पर हो।

भिक्षाटन करो, पेट पालो,
निष्कारण वाद बढ़ाओ मत;
व्याकरण - फक्किका, सांख्य - सूत्र,
मीमांसा, तर्क पढ़ाओ मत।

मृदु वीणा वाले हाथों में
शोभा न शरासन पाता है;
मुनियों की देख वेश - भूषा,
कटि - बद्ध भाथ सकुचाता है।

काम्बोज, वनायुज, पारसीक,
वाह्लिक, आजानेयादि अश्व
अर्वों खर्वों लो मनोनीत,
ले जाओ चाहे स्वसर्वस्व।

कर वलित वीति का स्तेय हेय
मत वीति - होत्र में करो विघ्न;
कोई राजा ही कर सकता
मेधीय अश्व को आत्म - निघ्न'।

वन - राज्य - प्रमुख प्रतिनिधि बोले -
'हम उस कुलपति के वीर छात्र ;
हैं झुकते महाछत्रपति भी,
पाती प्रपत्ति प्रज्ञा सुपात्र।

वन में मृगेन्द्र के पृथुकों को
देता है कौन वनाधिपत्य ?
स्वयमेव प्रघोषित करते हैं
भुज - बल से अर्जित राज्य सत्य।

मुनि निर्बल निरे समझ रक्खे,
क्या ऋषि दधीचि को भूल गये ?
जिन के शिरीष - से अस्थि - फूल
बन वृत्रासुर को शूल गये।

भोले पशुओं का बलि - प्रदान
हम घोर समझते हैं पातक ;
कोई न सिंह की बलि देता,
है दैव दुर्बलों का घातक'।

आया आमर्ष लाक्ष्मणिक को -
'बलि देना है वैदिकी क्रिया ;
क्या वेद पढ़े हैं विद्यार्थी ?
हवि दे जाता असु - दान दिया ।

क्या ज्ञात नहीं है, इस पशु के
संरक्षक वीर रिपुन्तुद हैं ?
रिपुओं का बल - विधु ग्रसने को
अवतरित द्वितीय विधुन्तुद हैं ।

'आखेट आखु की तुच्छ खेल,
पाण्डित्य न गोमय आघ्रापण ;
पङ्कस्पर्शन कर प्रक्षालन
है बालिशता का सम्प्रकरण ।

बूढ़े लवणासुर को मारा,
क्या इस में बड़ी शूरता थी ?
था हाथ दासिका पर छोड़ा,
दासी की यदपि क्रूरता थी ।

हाँ, माण्डवीश हैं एक सुभट,
जिन का विशाल है दृष्टि-कोण;
निःशिख पृषत्क से महावीर
हो गये धरा-च्युत लिंगे द्रोण'।

झल्लाये शशीकेतु — 'मुझ को
जानते नहीं अन्तेवासी!
है व्याल-बाल-सम्मुख कटाक्ष,
मानते नहीं अन्तेवासी'।

बोले वन-बाल — 'आप ही क्या
शेषावतार के वीर पुत्र?
कर अबला जन पर शराभ्यास
है कीर्ति पिता-श्री की न कुत्र?

ताड़का-प्रताड़न क्या कोई
साधारण थी बल की घटना?
सुनते हैं, रघुकुल-स्वामी को
दो चरण पड़ा पीछे हटना'।

जलबला सुमित्रा - पौत्र उठे -
'क्यों व्यङ्ग कस रहे वनवासी ?
व्याजस्तुति, वक्र व्याज - निन्दा
है लगती शोणित की प्यासी ।

समवयस्य, अभी आप सब में
है लौकिकता का अवाहुल्य ;
समवयस्कता के प्रश्रय से
क्या हैं न आप के पिता - तुल्य ?

हय - स्वामी का विक्रम बूझो
यज्ञ - द्वेषी दानव - दल से ;
या बूझो वालि - वेदना से,
अथवा समुद्र - वक्षस्थल से'।

प्रतिवाद पा गया यों समाप्ति,
अब श्री गणेश था तुमुल समर ;
दोनों ही राजकुमारों की
प्रत्यञ्चा ने छोड़े विषधर।

तन गये व्योम में शर - वितान,
लगते थे अस्त अंशुमाली;
तिमिरा - भ्रम में थे शकुन - मिथुन
कोटर, स्व - कुलाय - क्रोडशाली।

खा बाण - झपेट उलूकों के
कट - कट गिरते थे रुण्ड - मुण्ड;
थीं मांस - पेशियाँ ढूँढ़ रही
कौओं, चीलों के जठर - कुण्ड।

शत्रुघ्न, भरत, लक्ष्मण सब ने
था सर्व नीति से लिया काम;
पर कुश, लव ने छोड़ा न अश्व,
पार्षद - गण से कह उठे राम -

'सुग्रीव, विभीषण, जाम्बवान्!
ले जाओ युष्मत्कटक - यूथ;
ले आओ मेरे अन्तिक में
उन नटखट बालों का वरूथ'।

दिग्दर्शन मिला, बन्दरों की,
रीछों की चल दी अनीकिनी;
ले गिरि, तरु - खण्ड, गदा पहुँचे,
कोसों की यात्रा कुछ न गिनी।

सब ओर घेर ली वनस्थली,
जय राम - राज्य का भर डाला;
वृन्तों से वृन्तों पर जा जा,
फल खाये, पतझड़ कर डाला।

वन - जीव, जन्तु सज निकल पड़े
'जय हो वनदेवी की' कह कर;
'जब जन्म - भूमि ही नहीं रही
तब यहाँ करेंगे क्या रह कर?

है जग में जननी, जन्म - भूमि
मानी स्वर्गादपि गरीयसी;
होता है जीव न उऋण कभी,
महिमा ऐसी है महीयसी'।

जो विपिनस्थली अहिंसा की
सर्वांशों में थी प्रतिपादक ;
प्रतिहिंसा की भावना जगी,
पी प्रतिघा की हाला मादक।

खप्पड़ ले विषखपड़े दौड़े,
फड़ उठा फणी फुङ्कार उठे ;
खौरियाँ विषाणों से लेते
सैरिभ, बिजार हुङ्कार उठे।

नाके से क्या न लगे नाके ?
योधा बन गोधा - दल धाये ;
सेना की गीदड़ - भबकी में
गीदड़ भी आज नहीं आये।

मर्कट लड़ मरे मर्कटों से,
भालू को भालू उठे फाड़ ;
भिड़ गये केसरी - नन्दन से
केसरी सकेसरिणी दहाड़।

सीता ने हत्या - काण्ड सुना
थर - थर काँपी यद्वत् कदली ;
हस्तस्थ सुमरनी छूट पड़ी ,
निज दाँत - तले दाबी उँगली ।

' आत्रेयि बहन , अपने चष से
मैं क्या सपना - सा देख रही ?
दोनों ओरों का रण - समाज
मैं हूँ अपना - सा देख रही ।

जो प्रयत अरण्यानी मैं ने
सींची थी अनिश पसीने से ;
लगती कङ्काला , पलाशिनी ,
क्या फल है मेरे जीने से ' ?

कह उठीं अत्रिजा - ' राजपुत्रि !
क्षत्रियता को क्यों रहीं लजा ?
तिरहुत के पति शीरध्वज की
तुम ने देखी है वीर ध्वजा ।

भृगुपति का आत्म - स्वयम्वर में
उर पर रुष् का लिख लेख चुकी ;
निज श्वसुर अजात्मज का विक्रम ,
वैभव , विलास हो देख चुकी ।

लङ्का में आँखों से देखी
ज्वालाओं की जलती रेखा ;
अपने स्वामी को , देवर को
दैत्यों से रण करते देखा ।

तुम देख चुकी हो उत्पलाक्षि !
उत्थान , पतन कितने भव के ?
मत डरो , देखती जाओ अब
कर - लाघव अपने कुश , लव के ।

तुम ने ही तो किशोरपन से
पुत्रों को वीर बनाया है ;
क्यों सिखा स्थाणु पर वाण - व्यसन
सच्चा रणधीर बनाया है ' ?

कुश ने लङ्का - सेना जीवित
अन्त्येष्टि - कुशों पर दी लिटाल ;
अङ्गद की डाली गदा तोड़ ,
यद्वत् मतङ्ग - शावक मृणाल ।

जा राजपुरुष ने कहा वृत्त ,
अध्वर्यु जनों को वर अध्वर ;
चल दिये कुपित हो शार्ङ्गपाणि
सज शार्ङ्ग शिञ्जिनी से सत्वर ।

पृथ्वी पारद - सी हिली डुली ,
कलमले कूर्म , दिग्गज डोले ;
ककुभायें कप - कप काँप गयीं ,
खाते थे शेषनाग झोले ।

फिर रही प्रकृति थी प्राण लिये ,
क्या ज्वालामुखी न मलय हुआ ?
सब लोकों में चर्चा फैली -
' अब प्रलय हुआ , अब प्रलय हुआ ' !

सप्त सिन्धु तप्त उबल खौलने लगे,
अभ्र में अशान्ति की घटा उमड़ गयी;

देखते विराट् रूप रामचन्द्र का
चन्द्र चल विचल, प्रमन्द कान्ति पड़ गयी,
पुण्डरीकनेत्र की कनीनिका चढ़ी,
तारिकावली मिथः सभीत लड़ गयी;

सप्ति क्या कपोत-सी न खा गये कला?
सूर के रथाङ्ग की दशा बिगड़ गयी;
वैनतेय-वेग की कथा कहाँ रही?
देवयान के लिये उड़ान हड़ गयी।

एकोनविंश सर्ग

अज - कुलोद्भव , अज , अजर , अव्यय , अमर
यान से उतरे , रुका सहसा समर ;
सत्र कतिपय मुनि - कुमारों को लिये
गये यमल सकाश गत भय को किये ।

व्यञ्जना करने लगे सोदर्य क्या -
' यायजूक हयेश हैं रघुवर्य क्या ?
सोदरों ने प्रभु - सभा में कर्हिचित्
काव्य की मन्दाकिनी कर दी जवित ?

हैं कथा - नायक यही गुरु - काव्य के ,
क्यों न स्वागत - साज हों सम्भाव्य के ?
वीर - गोत्रज - मौक्ति की अभ्यर्चना
वीरता से हो दिखा अभ्यर्थना ' ।

युगल बाणों से युगल प्रभु - पद - कमल
युगल बालों ने किये वन्दन सतल
अन्तरात्मा में मुदित रघुराज ने
'वत्स, आयुष्मान्' शब्द न क्या भने !

'कोण - कलिका से क्वणित परिवादिनी
श्रवस् में है इदानीमपि नादिनी;
गुदगुदी शिशु - काकली की उर भरी,
नयन - मधुकर खोजते निज मधुकरी।

बन रहा क्यों स्वान्त सान्द्रस्निग्ध है ?
हस्त मेरा संख्य में संदिग्ध है;
चिपकते इषु जा रहे हैं इषुधि में,
नाक है न पिनाक रखता विसुधि में।

पोत क्या प्रियतमा की अनुहार हैं ?
कर रहे गत स्वप्न का मनुहार हैं;
बाँध उर - सिन्धुर रही क्यों मेखला ?
अमुक दुहृद्द है, कहूँ कैसे भला ?

है किया आक्रोश ने कर्कश मुझे,
कर रहा करुणा - कदर्य स्ववश मुझे ;
है अभीप्सा अङ्क भर लूँ नव खनिज,
असि, समानोदर्य पर कर वार निज।

अन्य द्वीपों में दया आयी नहीं,
शूद्र शिशु - वध में हया आयी नहीं ;
क्यों तितिक्षा आज राजा राम में ?
शक्ति क्या कविराज, तेरे धाम में' ?

तपस्काय महर्षि ने हँस कर कहा -
'क्यों सुरर्षभ, बहकते बुध बन अहा ?
औरसों पर हाथ है किस का उठा ?
अन्न, जल हो वंश से जिस का उठा'।

मृदु वचस् बोले जनार्दन कर प्रणति -
'वरद कर जिस पर रखें नित विरतिमति ;
बाल बांका कौन कर सकता कहाँ ?
एक असमञ्जस मुझे है पर यहाँ।

दोष है, मुनि-वचन का व्यत्यय करूँ
हैं मदंशज किस तरह प्रत्यय करूँ
दर्प को कन्दर्प के दलते सही
स्वजन से मुठभेड़ है अनुचित रही

भ्रातृ - दारक सैन्य आहत ला रहे
गुञ्ज - स्रज् - सम रक्त - शीकर छा रहे
वीतराग, न आप ने निर्णय किया
उपल देवस्थली पर गिरने दिया'

शेषवैभव ने प्रचेतस् के कहा
'श्रेय है इस वनी को कितना महा?
भक्त भी, भगवान् भी, सद्भक्ति भी
ज्ञान है, वैराग्य है, अनुरक्ति भी।

गृह - कलह - परिहार कोई कर सका?
किस न कर्मठ का यहाँ पौरुष थका?
सौंपता हूँ राम की निक्षेप - निधि,
हो चुकी है क्या न अब पूरी परिधि'?

वाक्य परम रसाल श्री हरि ने सुने,
कहा - 'संशय एक है फिर भी मुने !
राज - गौरव, सुत कलत्र - गवेषणा,
नाम वनदेवी, करूँ क्या लक्षणा'?

ब्रह्मगोचर ने कहा - 'मुझ को विदित,
सुतों को अनधीत हैं उत्तर - चरित;
नगर - तोरण ने न समझा पात्रिका,
हैं बनी सीता वनाधिष्ठात्रिका।

कण्व ने लाली यथैव शकुन्तला,
क्या तथैव न हैं पली निमि - कुल - कला?
देखिये, हैं खड़ी वन - माला लिये,
स्वयं सुमनस्तबक हैं गुम्फित किये।

है चतुष्पथ पक्ष्म-पंक्ति सजा रही,
क्या स्वयम्वर से न अधिक लजा रही?
झांकतीं झाड़ी - झरोखों में सखी,
सोचतीं तात्पर्य धोखों में सखी'।

जम्पती की चार क्या आँखें हुई
सजल अश्रु - प्रपात से पाँखें हुई
जङ्गमस्थावर समानावस्थ थे
सन्न कुश, लव क्योंकि आसन्नस्थ थे

'रङ्गमञ्च बदल रहा नव रङ्ग क्या
पुर न गुरु बाबा चलेंगे सङ्ग क्या'
मुनि - जरा कहने लगी सङ्केत कर
'नियति ने सब को दिया समवेत कर

जीव का रहता लगा आवागमन
है मनीषी को अलम् चिन्ता - चयन
घोंसले से मोह करता है बया,
साथ किस के कौन है सोचो, गया?

आज मेरी जगह वृद्ध वशिष्ठ हैं,
शिर चढ़ाने को समृद्ध वशिष्ठ हैं;
हैं सुमातामह जनक भी आ रहे,
क्यों सुनयना को नहीं हैं ला रहे?

पालकी में कौन वृद्धा हाँफती ?
लो, प्रजा भी आगयी रज फाँकती';
सिद्ध ने आतिथ्य समुपार्जन किया,
शल्य - श्वसितों पर सुजल मार्जन किया।

सैन्य 'सीताराम' कहती जग उठी,
रह गयी समरस्थली बाँधे मुठी;
दर्शको, आगे यवनिका - पात है,
पविहृदय को लघु, अकिञ्चन बात है।

कुञ्ज के नैपथ्य में बोलीं अली -
'अलि - कलेवर से सकुचती क्यों कली ?
माधवी मधु - मिलन की थी मरमुखी,
आज तो हँस दो सनातन हँसमुखी !

दूर से सिन्दूर है लायी उषा,
मांग भर लो, केश - वेणी पांशुला;
जा रहीं प्रिय - गेह आशु निरञ्जना,
आँज दे अञ्जन, खड़ी क्या ? खञ्जना !

मालती, क्यों नहीं आ भाजन रहे ?
प्रजाजन ही प्रेम का भाजन रहे;
पग लगी उन के नहीं है मेंहदी,
अब न दुर्गम विप्रलम्भन की नदी।

खो दिये जाने कहाँ केयूर हैं ?
खोज ले न मयूर, क्या दृग् दूर हैं ?
नृत्त कर मत रो मयूरी नृत्तिनी !
दे बुलावा ले विदा का वृत्तिनी

धरेगी तेरे महावर पैर में,
क्षणिक जीवन है, धरा क्या वैर में ?
सिंहिनी - कटि को न लायी किङ्किनी,
काम की कब पश्यतोहर - कामिनी ?

बाँध दे मौली सगुन की मौलि - श्री !
बूझ दैवज्ञे, रहीं तिथि अतिथि - श्री;
भर कहारी ले युगल तोरण - कलश,
शून्य ले निकलें न मुनि तर्पण - कलश।

बदल स्वक नूपुर न री पारावती !
ले चलेंगी सङ्ग किस किस को सती '?
क्या सुना ? कहती प्रगल्भायें रहीं,
मैथिली मानों वहाँ थीं ही नहीं।

झुकी पार्श्व सकञ्चुकी रूपायनी,
रति नहीं, उस रजक की कामायनी;
'सूत्र उज्ज्वल धार लो मेरे कहे,
साभिनय जग - सूत्रधार मना रहे।

विश्व - रङ्गस्थली की शोभाप्रदा
हो सपूत, प्रधान पात्री शुचि सदा;
राग - माला व्यर्थ है भवती विना,
उर - पटल मेरा रहा मुझ से विना।

है विदूषक धरा में जाता धँसा,
क्या कहूँ, क्यों था पवित्री पर हँसा?
प्रश्न है, पर पास है उत्तर नहीं';
'क्यों नहीं उत्तर ? मिला अवसर नहीं'।

मालती, क्यों नहीं आ भाजन रहे
प्रजाजन ही प्रेम का भाजन रहे
पग लगी उन के नहीं है मेंहदी
अब न दुर्गम विप्रलम्भन की नदी।

खो दिये जाने कहाँ केयूर हैं?
खोज ले न मयूर, क्या दृग् दूर हैं?
नृत्त कर मत रो मयूरी नृत्तिनी!
दे भुलावा ले विदा का वृत्तिनी-

धरेगी तेरे महावर पैर में,
क्षणिक जीवन है, धरा क्या वैर में?
सिंहिनी - कटि को न लायी किङ्किनी,
काम की कब पश्यतोहर - कामिनी?

बाँध दे मौली सगुन की मौलि - श्री!
बूझ दैवज्ञे, रहीं तिथि अतिथि - श्री;
भर कहारी ले युगल तोरण - कलश,
शून्य ले निकलें न मुनि तर्पण - कलश।

बदल स्वक नूपुर न री पारावती !
ले चलेंगी सङ्ग किस किस को सती'?
क्या सुना ? कहती प्रगल्भायें रहीं,
मैथिली मानों वहाँ थीं ही नहीं।

झुकी पार्श्व सकञ्चुकी रूपायनी,
रति नहीं, उस रजक की कामायनी;
'सूत्र उज्ज्वल धार लो मेरे कहे,
साभिनय जग - सूत्रधार मना रहे।

विश्व - रङ्गस्थली की शोभाप्रदा
हो सपूत, प्रधान पात्री शुचि सदा;
राग - माला व्यर्थ है भवती विना,
उर - पटल मेरा रहा मुझ से विना।

है विदूषक धरा में जाता धँसा,
क्या कहूँ, क्यों था पवित्री पर हँसा ?
प्रश्न है, पर पास है उत्तर नहीं';
'क्यों नहीं उत्तर ? मिला अवसर नहीं'।

आनुषङ्गिक प्रजा की बाहें उठीं,
साथ बाहों के न क्या आहें उठीं ?
'एक के अभियोग में सब क्यों सने ?
राज-गुरु से पूछिए, साक्षी बने।

प्रजा - प्रतिनिधि राम हैं, धावक नहीं,
पक्ष करता किसी का पावक नहीं;
किन्तु उस ने भी प्रमाणित कर दिया,
नाम दूषित प्रजा का खल ने किया।

एक मत ने है दिया बहुमत उबा,
एक पापी नाव है देता डुबा;
तथ्य है लोकोक्ति यह आपाततः,
कर्णधार विचार ले पहले स्वतः।

क्यों विपाकी को मिलाता सार्थ में ?
तारना है यदि उसे परमार्थ में -
सार्थवाहों का सुमत अनिवार्य है,
नारकी की क्या ? महान अनार्य है।

रजक - कुक्कुर सकल सांयात्रिक बने,
वृत्त वार्णिक हैं न हैं मात्रिक बने;
साधुता है कर्णधारी से परे,
है किनारे मण्डपी अपनी धरे।

प्रलय, झञ्झावात आया बवण्डर,
बिजलियाँ कितनी गिरीं उत्पात कर?
है नियत अपनी जगह हिमवान् - सी,
हाथ कङ्कन के लिये क्या आरसी'?

'सत्य है, सब सत्य है, क्या उक्ति है!
सत्य - पथ में सत्य बोले मुक्ति है';
एक स्वर में सुर - वधूटी - कुल जुटा,
नन्दिनी पर जनक की नन्दन लुटा।

'जानता यदि पुत्रि!' बोले निमि - प्रवर -
'रहोगी काषायवसना जन्म भर;
वस्त्र भगवा भूलता न दहेज में,
लाल किस को हैं मिले नृप - सेज में'?

सुन विहार - नरेश - परिदेवन - गिरा,
ऋक्षराज - जराङ्ग में वेपथु घिरा;
'ले चलें' बोले वलीमुख - 'पुर अभी,
मधुवनी का किन्तु है अंकुर अभी।

माँ कहें, मरकत - कँगूरों को खसा,
दूसरा साकेत दें वन में बसा;
दें न सरयू - धार तमसा में मिला,
शेषशायी का मिले आसन हिला'।

सार सारुन्धति पुरोधस् ने कहा -
'कब न है पुर - सौध स्वागत कर रहा?
किया अघमर्षण जनश्रुति ने अभय,
चरित सीता का न ननु नच का विषय'।

होगये वाल्मीकि के अम्बक सजल -
'सच्चरित - साक्षी विवस्वत् हैं प्रबल;
जानता क्या मैं नहीं भृगु - शाप हूँ?
समझता शेषायु की भी भाप हूँ।

राम से कुछ और कहना है मुझे,
कटु विवासन का उलहना है मुझे;
राज्य में जिस के सुखी संसार है,
श्वान को भी न्याय का अधिकार है।

जब कि दोषी को हृदय में स्थान है,
क्यों कुपित निर्दोष पर भगवान् है?
यदि प्रजा की भक्ति इस का नाम है
तो सभी का सकृत्सकृत् प्रणाम है'।

राम बोले - 'अब मुझे भी शोक है,
मत न कवि - पुङ्गव, व्यलीक स्तोक है;
कब वितथ है जो समुच्चय ने कहा?
शेष सूनृत कुल - महाशय ने कहा।

मुनि - कृपा का कौन आभारी नहीं?
धर्मिणी सीता किसे प्यारी नहीं?
स्वयं सार्वजनीन निज मत - दाक्ष्य दें,
शपथ - पूर्वक स्वाचरण का साक्ष्य दें'।

क्या रही तूष्णीक त्रिजटा - ‘ श्रीपते !
शुद्ध हैं आद्या त्रिपथगा मन्मते ;
मैं रही हूँ तीर आठो याम ही,
एक थे आधार इन को राम ही ।

देख आये थे प्रभञ्जन - सूनु भी,
क्या कही थी राक्षसेश्वर से चुभी ?
‘ घास खा रासभ मरे, घूरे कहीं,
सिंहिनीस्तन - पय शृगालों को नहीं ’ ।

थी न दुर्मति - हृदय में दुर्भावना,
रख रहा था मुक्ति की प्रस्तावना ;
ध्येय उस का क्या न पूरा हो गया ?
है सती को बीज विष का बो गया ’ ।

विनत सीता ने कहा - ‘ त्रिजटे, जननि !
श्रोत्र - विवरों में न डालो तरस् - ध्वनि ;
है अपेक्षा अब न माँ साहाय की,
चिता करती अन्तगति यदि काय की -

देखना पड़ता नहीं यह दिन मुझे,
लोक - दीपक क्या ? जले पल, पल बुझे;
प्राणपति वन - वास भर न नगर गये,
मैं रचूँ कैसे विधानों को नये ?

शक्ति मेरे है न आज कपाल में,
पड़ कपाल - क्रिया के न बवाल में;
क्या उदर की दरी में कोई ठगा ?
दोष जग में जन्म लेने से लगा।

यदि वचन, मन, काय से निष्पाप हूँ,
पतितपावन का लिये व्रत - दाप हूँ;
ले मुझे माँ बसुमती, निज गोद में,
पलूँ तेरे कारुणीक पयोद में'।

वेदना ने सुता की उर को छुआ,
अन्तराल विकीर्ण वसुधा का हुआ;
कर - कमल जोड़े सजीव समा गयीं,
कीर्ति पतिव्रत्नी अनन्त कमा गयीं।

अन्तरिक्ष विषाद से था रहा
चढ़ीं श्रद्धाञ्जलि विशुद्ध समाधि
ले समाधि - पराग प्रभु ने सङ्ग
अङ्गराग - समान लेपी अङ्ग

'क्या न थीं कल तक प्रिये, अर्धाङ्गिनी
आज हो मेरी बनी सर्वाङ्गिनी
राम - माता अङ्क कुश, लव को भरे
विलपती थीं - 'चल बसीं कुल - वधु, अरे'

रोते - रोते अवधपुर की
अक्षि - पक्ष्मा पिरायी,
पाली, पोषी वन - हरिणियाँ
हेरती थीं हिरायी;
आहें लेती कवि - मधुवनी,
आर्य - शोभा सिरायी;
मर्त्यों ने क्या सुर - निकर ने
अश्रु - माला गिरायी।
